कालचक्र
की
उत्पत्ति एवं उत्पन्न क्रमों
की
संक्षिप्त व्याख्या

★

लेखक

राजेश्वर झा

बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना

★

प्रकाशक

श्री अमरनाथ झा

ग्राम–रसुआर, पो०–निर्मली,

जिला–सहरसा

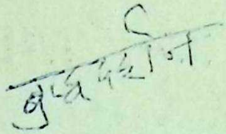

४२९६
९८

कालचक्र
की
उत्पत्ति एवं उत्पन्न क्रमों
की
संक्षिप्त व्याख्या

2312014225

लेखक

राजेश्वर झा

बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना

★

प्रकाशक

श्री अमरनाथ झा

ग्राम–रसुआर, पो०–निर्मली,

जिला–सहरसा

सर्वाधिकार सुरक्षित

पुस्तक प्राप्तिस्थान
श्री अमरनाथ झा
द्वारा श्री राजेश्वर झा
बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना-४

मूल्य ६) रु० मात्र

मुद्रक
श्री कामेश्वर प्रसाद
कालिका प्रेस,
आर्यकुमार रोड, पटना-४

४२५६
७८

अनुसन्धान कक्ष

पं० श्री लक्ष्मीकान्त झा

उपहार

पटना उच्चन्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश एवं
बिहार रिसर्च सोसाइटी के उप-संरक्षक
पं० श्री लक्ष्मीकान्त झा जी को
सादर भेंट !

—लेखक

प्राक्कथन

'कालचक्र की उत्पत्ति एवं उत्पन्न क्रमों की संक्षिप्त व्याख्या' तिब्बतीय ग्रन्थ 'दां-पोओी-सङ्स-रग्यस्-द्पल्-दुस-क्यी-ऽखोर-लोओी-लो-रग्युस-दां-मिं- गि- रनाम्- ग्रांस- वसुग्स्-सो' का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी मूल प्रति बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना के पुस्तकालय के तिब्बतीय विभाग में उपलब्ध है।[1]

कालचक्र अद्वय अक्षर परमतत्व का नामान्तर है। काल करुणा से अभिन्न शून्यता की मूर्त्ति है। संवृतिरूप शून्यता चक्रपाद का अर्थ है। प्रकारान्तर से कहा गया है—

काकारात् कारणे शान्ते लकाराच्च योऽत्रवै।
चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात् क्रमबन्धनात्॥

—विमलप्रभा, १२८, १.४

अर्थात जाग्रत अवस्था के क्षीण होने के कारण बोधि-चित्त-काय शान्त या विकल्पहीन होता है। यही "का" से अभिप्राय है। काय-बिन्दु के निरोध से ललाट में निर्माणकाय नाम का बुद्ध-काय प्रकट होता है। स्वप्नावस्था का जो क्षय होता है वही प्राण का लय है। इस अवस्था में वाग-विन्दु का निरोध होता है। इसीसे कण्ठ में संभोग-काय का उदय होता है जो "ल" से अभिप्रेत है। सुषुप्ति के क्षय होने पर चित्त-विन्दु का निरोध होता है। उस समय हृदय मे धर्मकाय का उदय होता है। जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में चित्त शब्दादि विषयों में विचरण करता है। इसीलिये चंचल एवं तम से अभिभूत रहता है। अट्ठारह प्रकार के धातु विकारों से वह विकृत होता है। इनके अपसारण से हृदय में चित्त निरुद्ध हो जाता है। यही "च" का अभिप्राय है। इसके बाद तुरीयावस्था का भी क्षय हो जाता है। तब कायादि सब बिन्दु सहज सुख के द्वारा अच्युत हो जाते हैं। उसी समय तुरीयावस्था का नाश होता है। स्वरगत ज्ञान-बिन्दु के निरोध से नाभि में सहज-काय का आविर्भाव होता है। यही "क्र" का अभिप्राय है। अतएव कालचक्र चार बुद्धकायों का समाहार है। यह प्रज्ञा तथा उपाय का सामरस्य है। एकाधार में यही ज्ञान तथा ज्ञेय है। ज्ञान का तात्पर्य अक्षर-सुख का बोध होता है। इससे सब आवरणों का क्षय होता है। ज्ञेय से अभिप्राय अनन्त भाव त्रैधातुक जगत-चक्र अर्थात् समग्र विश्व का बोध होता है। प्रज्ञा शून्यात्मक और उपाय करुणात्मक एवं षडभिज्ञात्मक है। प्रज्ञा शून्याकार और करुणा सर्वाकार है। दोनों का एकत्व ही कालचक्र है। यही यथार्थ युगनद्ध है। कालचक्र तन्त्र में लिखा है कि शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से अनन्त विश्व ही चक्रस्वरूप है किन्तु अनन्त होकर भी यह एक ही है। बुद्ध या शंभु जैसे एक हैं उनका चक्र भी वैसे ही एक है। वस्तुतः बुद्ध और चक्र अभिन्न हैं। अनन्त बुद्ध-क्षेत्र, अनन्त गुण, आकाशादि सर्वधातु, उत्पत्ति-स्थिति विनाशात्मक तीन प्रकार के भव, छः गतियों में विद्यमान सकल सत्व, बुद्धगण, क्रोधगण, सुरादि वर्ग, करुणा, बोधिसत्वगण ये सभी इस अखण्ड महाचक्र के अन्तर्भूत हैं। यह कालचक्र ही आदि बुद्ध है।

---

१. प्रो० अनिरुद्ध झा, दी कैटेलग आफ दी तिब्बेतन टेक्स्ट इन दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, भाग १, क्रम संख्या–८०४

नामसंगीतितन्त्र में कहा गया है—

'अनादिनिधनो बुद्ध आदिबुद्धो निरन्वयः ।'[२]

ऐतिहासिक बुद्धगण इन्हीं के बहिः प्रकाश हैं ।

साधक के दृष्टिकोण से देखने पर इस कालचक्र में तीन मात्रायें तथा तीन मुद्रायें लक्षित होती हैं । बोधिचित्त की क्षरगति मृदुमात्रा, स्पन्दगति मध्य मात्रा तथा निष्पन्द गति अधिमात्रा है। जिससे अक्षर सुख का उदय होता हैं वह कर्म मुद्रा, जिससे स्पन्द सुख का उदय होता है वह ज्ञान मुद्रा तथा जिससे निष्पन्द सुख का उदय होता है वह महामुद्रा है । षडंग योग के द्वारा इन तीनों मुद्राओं की भावना बौद्ध तन्त्रों में उपदिष्ट हुई है ।

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षरूप मासचक्र ही कालचक्र का स्वरूप है। पूर्णिमा के बाद चन्द्रकला क्रमशः क्षीण होती है तथा अमावास्या के बाद क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होती है। कलाओं की पारी-पारी से ह्रास और वृद्धि उसकी अनित्यता ही सूचित करती है। चन्द्रमा की पन्द्रह कलाएँ कला रूप में नित्य होने पर भी विकारशील है। षोडशी कला यथार्थ रूप से नित्य और अमृत कला है। इस षोडशी कला का आपूरण अथवा संक्षय कुछ भी नहीं होता। क्षरणहीन होने के कारण इस षोडशी कला को ही 'अक्षर' कहते हैं। कालचक्र का निरन्तर आवर्तन इसका स्पर्श नहीं कर सकता।[३]

कालचक्र त्रिकोण, पञ्चकोण, षोडशदल, और अष्टदल कमल हैं।[४] सिद्ध योगियों ने देह में अनेक चक्रों की सत्ता का आविष्कार किया है। आधार आदि छः चक्रों के अतिरिक्त और भी अनेक चक्रों का विवरण उनके साहित्य में पाया जाता है। स्वाधिष्ठान के ऊपर कटि स्थान में कुण्डलिनी चक्र, मणिपुर के ऊपर गुप्तचक्र, आज्ञा या अग्निचक्र के ऊपर ललाट स्थान में द्वात्रिंशद्दलमय चन्द्रचक्र, मूर्धास्थित ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर तालुस्थान में चतुषष्टि (चौंसठ) दलात्मक तालुचक्र, तालुचक्र के ऊपर भ्रमरगुहा में अष्टोत्रशत (१०८) दलमय ब्रह्मचक्र, ब्रह्मचक्र को अतिक्रम करके शिखास्थान में असंख्य दलमय कोल्हाटचक्र है। इन सब चक्रों का विवरण नाथों के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। इन चक्रों में तालुचक्र से ही श्वास निवृत्त होता है। ब्रह्मचक्र में स्थिति होने पर महामौनावस्था की प्राप्ति होती है। कोल्हाटचक्र में परम शून्य पद का मार्ग प्राप्त होता है। इसमें अव्यक्त शक्ति का अधिष्ठान है। यह परम शून्य स्थान इक्कीस ब्रह्माण्डों के ऊपर स्थित है। इस शून्य में प्रविष्ट हुये बिना अनावृत और मुक्तभाव का बोध नहीं हो सकता। वस्तुतः इस परम-शून्यावस्था में प्रवेश को ही मुक्ति अथवा निर्वाण कहते हैं।[५]

बौद्धों ने नामान्तर से चार चक्रों की कल्पना की है—मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और सहस्त्रारचक्र (उष्णीष कमल)। बौद्धों ने चक्रों के साथ कायों की अभिन्नता भी स्थापित की है। क्रमशः उन चक्रों से निर्माणकाय, संभोगकाय, धर्मकाय और सहजकाय का सम्बन्ध है। मेरुदंड के मूल में निर्माणकाय, हृदय में धर्मकाय और गर्दन के नीचे संभोगकाय है।

---

२ आचार्य नरेन्द्र देव कृत बौद्ध धर्म दर्शन की भूमिका, म० म० गोपी नाथ कविराज, पृ० ४१

३ म० म० गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० २६६

४ वही, तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १७८

५ म० म० गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० २८२

त्रिकायों में सबसे पहले निर्माणकाय, दूसरा संभोगकाय, और अन्त में [तीसरा स्थान धर्मकाय का है। चतुर्थ चक्र सहस्त्रारचक्र या सहजकाय या उष्णीषकमल है।

हेरुकतन्त्र के अनुसार महासुखकमल में चार आर्यसत्यों के प्रतीक चार दल हैं। संभोगचक्र में सोलहदल, धर्मचक्र में आठ दल तथा निर्माण कमल में चौसठ दल हैं। सेकोद्देशटीका के अनुसार उष्णीषकमल से निर्माण कमल तक वे चार कमलों में क्रमशः चार, सोलह, बत्तीस तथा चौसठ दल हैं। श्री संपुट में चार चक्रों का सम्बन्ध इन चार मुद्राओं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा तथा समयमुद्रा के साथ जोड़ा गया है। ये मुद्राएँ पुनः चार स्कंधों की अधिष्ठात्री—लोचना (पृथ्वी), मामकी, (जल), पांडरा (अग्नि) और तारा (वायु) जो क्रमशः करुणा, मैत्री और प्रणिधि (एकाग्रता), मुदिता एवं उपेक्षा के प्रतीक रूप में रहती है।

तिब्बतीय लामा चक्र को मणि कहते हैं। कनिंघम ने इसे मणि-छोस-खोर (ठ मूल्य धार्मिक चक्र)[६] कहा है। बौद्ध-ग्रन्थों मे जीवन एवं मृत्यु चक्र, जीवन परिवर्त्तन चक्र, कालचक्र इत्यादि चक्रों के नामों का उल्लेख मिलता है। पाली वाङ्मय में "धम्म चक्का"[७] और सियामी ग्रन्थों में इसे 'फ्र' (पवित्र) "थम्मा" (धर्म) "चक" (चक्र) कहा गया है।[८] प्राचीन भारतीय वाङ्मय में चक्र का विवरण तो है ही साथ ही चक्रवर्ती एवं महाचक्रवर्ती सम्राटों की उपाधि के रूप में उल्लेख किया गया है। संस्कृत साहित्य में ब्रह्मचक्र, सुदर्शन चक्र आदि रूप में चक्र के विविध नामों का प्रयोग अनेकों स्थल पर किया गया है।

कालचक्र का तिब्बतीय प्रारूप

कालचक्र (जीवनचक्र) का लौकिक प्रतिरूप के चित्र तिब्बत के सभी मठों के द्वार पर पाये जाते हैं। इन चित्रों की तीन श्रेणियाँ होती हैं (चित्र संख्या १, २ और ३ देखें)। प्रथम चित्र छः वृत्त खण्डों से युक्त एक चक्र का होता है। इस चक्र के केन्द्र में एक छोटा वृत्त तथा इसके बाहर में एक चौड़ा व्यास रहता है जिससे चक्र निरन्तर घूमा करता है।

चक्र के रूप में परिमित अस्तित्व के अपवर्त्य पद्धति के सिद्धान्त की कल्पना की गयी है। जीवन का अनुमान काल के किसी खास प्रासंगिक घटना से नहीं लगाया जा सकता जो स्थिर अभेद्यता को प्रभावित कर अन्ततोगत्वा सम्बद्ध व्यक्ति के भविष्य की अवस्था को निर्धारित करती है। इसका अभिप्राय परिवर्त्तन की शृङ्खला के उस तथ्य से है जो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है तथा किसी भी तरह वह इस परिवर्त्तन से मुक्त नहीं रह सकता है। मनुष्य अनियमित प्राणियों की अवस्था की एक संख्या है तथा भौतिक जीवन मात्र एक घटना स्वरूप है।

क्रिया जो परिभ्रमण के कारण स्वरूप है तथा जो भिन्न-भिन्न जीवों के परिवर्त्तन की सूचना प्रदान करता है एवं कार्य की शक्ति-स्वरूप है उसे कर्म कहते हैं। कर्म ही जीवमात्र में

---

६ दि बुद्धीस्ट प्रेयींग ह्वील, विलीयम सिम्पसन, पृ० २६

७ सेकरेड बुक आफ दी इस्ट, भाग १२, पृ० १५३

८ दि बुद्धीस्ट प्रेयींग ह्वील, पृ० २६

सतत् परिवर्त्तन प्रवृत्त करता है। जीव अपनी समता को क्रमशः दो लगातार परिवर्त्तनों में सुरक्षित नहीं रख सकता है। जीवन में मात्र उत्थान और पतन हैं। वस्तुतः परिधि ही इस अनन्त क्रम का प्रतिरूप है। चक्र तो केवल मिथ्या नामकरण के रूप में प्रयुक्त होता है क्योंकि जब चक्र घूमता है यह सम्पूर्ण रूप से दृढ़ रहता है और परिधि के अन्दर के पदार्थ गतिशील रहते हैं। नये जीवन के प्रत्येक परिवर्त्तन के अवसर पर वे ग्रह-पथ के ग्रह एवं उपग्रह सदृश परस्पर उलझते, टकराते, टूटते, संबद्ध होते, उगते और नष्ट हो जाते हैं।

परिधि अनियमित वृद्धि का प्रतीक मानी जाती है जो अतीत के अभेद धुंधलापन को प्राप्त करती हुई मुक्ति की अनुपस्थिति में अथवा कार्य के अवरोधावस्था में भविष्य की प्रवृत्ति की शक्ति प्रदान करती है। अनन्त परिवर्त्तन का प्रवाह जीवमात्र को नये जीवन की शृङ्खला से सम्बद्ध कर पूर्व के नाम एवं अवस्था से निष्क्रमण कर नये नाम और अवस्था को ग्रहण करता है जिसे हम युवावस्था उम्र, जन्म एवं मृत्यु की संज्ञा देते हैं। ये सब के सब क्षणिक और काल्पनिक हैं जो बिना अवरोध के सतत् प्रवाहित होते रहते हैं।

क्रिया प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है जो सर्वोपरि है। क्रिया के द्वारा मनुष्य को सुख और दुख की प्राप्ति होती है। इसीसे जन्म-मरण होता है।

चक्र में छः विभाग हैं। इन विभागों में (१) देव, (२) दानव, (३) मनुष्य, (४) पशु, (५) यीदग्स् (एक प्रकार का भूत) और (६) नरक के संतप्त प्राणियों का निवास है।[९]

देवताओं का निवास-स्थान साधारणतः आनन्द का साम्राज्य है जहाँ दुख नाम की कोई चीज ही नहीं रहती है। वहाँ सभी तरह की इच्छाओं की पूर्त्ति होती है। प्रायः इसे ही सुखावती कहते हैं। दानव-लोक का दूसरा स्थान है। दानव पराक्रमी एवं युद्धप्रिय होते हैं। वे देवों के प्रतिद्वन्द्वी हैं। इसके बाद का लोक मनुष्यों का है। मानव-जीवन मूलतः सुख-दुख का द्वन्द्वात्मक जीवन है। पशुओं का चौथा लोक है। पशु मनुष्य के कामों में सहयोग प्रदान करता है। अतएव वह दया का पात्र है। यीदग्स् का पाँचवां लोक है। यीदग्स् का अति दीर्घाकार उदर तथा सूई की नोंक के जैसा मुँह होता है। इनकी भूख अत्यन्त उग्र होती है किन्तु इन्हें उसे मिटाने की क्षमता नहीं होती है। गर्म एवं ठण्ढे वातावणों से युक्त नरक के विभिन्न यातनाओं से सन्तप्त प्राणियों का छठा लोक है। अतएव यह चक्र वस्तुतः जीवन-चक्र का प्रतिरूप है।[१०]

डॉ० जी टुच्ची ने अपने ग्रन्थ "तिब्बेतन पेन्टेड स्क्रोल्स" (भाग २, पृष्ट ५९८, टंका नम्बर १७८ चित्र नम्बर २११-२१३ जो कालचक्र के चित्र हैं) में निम्नलिखित व्याख्या की है—

"इन चित्रों को वस्तुतः पहले मण्डल ही समझा गया, किन्तु इनका जब पूर्ण रूप से अध्ययन किया गया तो ये यथार्थतः विदेशी तथा इनके अभिप्राय भी सम्पूर्णतः भिन्न जान पड़े। चित्रों में अनेक भवनों एवं मन्दिरों के अतिरिक्त राजभवन के मध्य में देवताओं के छोटे-छोटे चित्रों के साथ सम्मुख में दो मण्डलों का आकार लक्षित होता है। केन्द्र के ऊपर रडो-रजे-अचन उसके नीचे यब-युम का खड़ा चित्र दुस-क्यी-ऽखोरलो (कालचक्र) के उद्देश्य

---

९ पिक्स एण्ड लामाज, मारको पेलीस, पृ० १४३-१५७

१० वही

चित्र सं०-१

चित्र सं०-२

चित्र सं०-२

का दिग्दर्शन कराता है जो जुन-ऽजुग-दुस-क्यी-ऽखोरलो के नाम से प्रसिद्ध है। राजभवन के बायें र्दोर-र्जे-अचन उसके बायें में ग्मिन-र्जे-ग्सेद तथा इसके दाहिने भाग में दूसरे-दूसरे यब-युम के चित्र हैं।

इसके बाद बायें आठ राजाओं के चित्र, दाहिने भाग में दो और अन्य चित्र हैं। राजभवन के भीतर उपरोक्त प्रकार के चित्र हैं।

नीचे के चित्रों में युद्ध का दृश्य है जिसमें एक योद्धा घोड़ा पर सवार है। द्रग-पो-ऽखोरलो अपने भाला से जमीन पर गिरे हुये एक शत्रु को भेद रहा है। नीचे के अभिलेखों में उसे ब्यस्-पाई-ब्लो के नाम से वर्णन किया गया है। द्रग-पो-ऽखोरलो के निकट काले घोड़े पर सवार शत्रुओं के ऊपर तीर चलाते हुये हनुमान हैं।

इन चित्रों को कालचक्र के कथावस्तु से समता की जाती है जो राजा ड्रग-पो-ऽखोरलो का क्लऽ-क्लो (तुरुकों) के ऊपर विजयकीर्त्ति है।

छोटे-छोटे चित्र जिनमें मन्दिर तथा अन्य छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ हैं कल्प का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह कुनीक राजाओं (रिग्स्-ल्दन्) का राजभवन है जो शंभल देश में है। दूसरी पंक्ति के भवन कल्प के घिरे हुये ९६ अल्पराष्ट्र हैं। टंका के बीच के मण्डल दुस-क्यी-ऽखोर-लो (कालचक्र) है जिसे ज्ल-बा-वजन-पो ने बनबाया था।

तिब्बतियों की अनुस्त्रुति के अनुसार ड्रग-पो-ऽखोर-लोचन भगवान की कृपा से क्लऽ-क्लो के ऊपर विजय प्राप्त कर बुद्धशासन को पुनर्जीवित करेंगे।"

कालचक्र का कथानक वस्तुतः हिन्दु पुराणों में वर्णित 'कल्कि अवतार' की कथा है जिसे ग्रन्थकार लोङ्‌ दो-लामा (क्लोन-र्दोल-ब्लामा) ने प्रस्तुत ग्रन्थ में समावेश किया है।

श्रीकालचक मूलतन्त्र का विवरण 'अभिनिश्रयन सूत्र' में मिलता है। इसमें कहा गया है कि इसका उपदेश भगवान बुद्ध ने श्रीधान्यकटक में दिया था।[११]

धान्यकटक एवं श्रीपर्वत

कालचक्रयान सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्य श्री वैडेल और श्री कोरोस ने किया है।[१२] श्री कोरोस के अनुसार इस विशेष यान का जन्म शंभल में हुआ था। शंभल उत्तर का कोई प्रान्त है जिसकी राजधानी कल्प में थी। तिब्बतीय ग्रन्थ में लिखा है कि वज्रयान का धर्मचक्र प्रवर्त्तन भगवान बुद्ध ने श्रीधान्यकटक में किया था।[१३]

धान्यकटक आन्ध्र सम्राटों की दूसरी राजधानी था। शातकर्णी या शातवाहन (शालिवाहन) आन्ध्र राजा यद्यपि कुछ समय तक, उत्तरी भारत के भी शासक थे, तो भी पीछे उन्हें दक्षिण पर ही सन्तोष करना पड़ा। बौद्ध-धर्म पर इनका बहुत अनुराग था। राजधानी धान्यकट (अमरावती) उनके बनबाये भव्य स्तूप, नाना प्रकार की मूर्त्तियाँ, लताओं तथा चित्रों से अलंकृत संगमरमर की पट्टिकाएँ, स्तम्भ, तोरण आदि इस समय भी उनकी कलाप्रियता के जीवित नमूने हैं।[१४]

---

११ पैग साम जान जैंग, पृ० ३७

१२ ज० ए० सो० बं, भाग २४, पृ० ५७

१३ बुग-प-पद्म-दकरपो का छोस-ब्युङ, पृ० १४क

१४ राहुल सकृत्यायन, पुरातत्व निबन्धावली, पृ० ९९

भोटिया ग्रन्थों[१५] से मालूम होता है कि पूर्व शैल और अपर शैल धान्यकटक के पूर्व और पश्चिम की ओर के दो पर्वत थे। इन्हीं पर्वतों के ऊपर के विहार पूर्वशैलीय और अपर शैलीय कहे जाते थे।

मंजुश्रीमूलकल्प, १० पटल के—

"श्रीपर्वते महाशैले दक्षिण-पथ-संज्ञके।
श्री धान्यकटकके चैत्ये जिन धातु-धरे-भुवि॥"

श्लोक के अनुसार धान्यकटक के स्तूप का नाम ही "महाचैत्य" था।

धान्यकटक आन्ध्र प्रदेश अन्तर्गत वर्त्तमान धरनीकोट[१६] (जिला गुंटूर) है। तिब्बतीय ग्रन्थ क्लोङ्-रदल-ग्सुङ्-बुम के अनुसार नागार्जुन का निवास-स्थान दक्षिण-भारत में श्रीपर्वत के समीप धान्यकटक में था।

श्रीपर्वत मन्त्रशास्त्र के लिये बहुत ही प्रसिद्ध था। मालती माधव[१८] में भवभूति ने श्रीपर्वत का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है। कादम्बरीकर्त्ता वाण भी श्रीपर्वत के महात्म्य से पूर्ण परिचित थे तथा वे श्रीपर्वत का सम्बन्ध द्रविड़ पुरुष के साथ जोड़ते थे।[१८] अतएव श्रीपर्वत का दक्षिण में होना तथा मन्त्र-तन्त्र में प्रसिद्ध होना सिद्ध होता है।

श्रीपर्वत वस्तुतः सिद्धों का स्थान था और जहाँ कहीं भी पुराने संस्कृत काव्यों में सिद्ध या सिद्धाचार्य शब्द मिलता है वहाँ प्रायः कवि या लेखक का अभिप्राय, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, श्रीपर्वत के साथ रहता है।

सातवीं शताब्दी में मन्त्रयान का प्रथम रूप समाप्त होता है तथा वह वज्रयान का धीर रूप को धारण करता है। १४वीं शताब्दी के सिंहल भाषा के ग्रन्थ "निकाय-संग्रह" में इसी वज्रयान को वज्रपर्वतवासी निकाय कहा गया है। श्रीपर्वत वज्रयान का केन्द्र होने के कारण, वज्रपर्वत कहलाने लगा। मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री[१९] ये चार ही चीजें वज्रयान के मुख्य रूप हैं।

---

१५ क्लोङ-रदल-बुम, ग, पृ० ८ख

१६ राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व-निवन्धावली, पृ० १०४

१७ "दाणिं सोदामिनि समासादिअ अच्चरिअमन्तसिद्धिप्पहावा सिरिपव्वदे कावालिअ-व्वदं धारेदि। अंक १॥
(२) "श्री पर्वतादिहाहं सत्वरमपतं तथैव सह सद्यः"। अंक १०॥

१८ "श्री पर्वताश्चर्यवार्तासहस्राभिज्ञेन···
जरद्द्रविडधार्मिकेन, कादम० नि० सा०, पृ० ३९९

१९ गायकवाड़-ओरियंटल-सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित "गुह्यसमाजतन्त्र" में लिखा है—
"प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः
अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्वान् प्रचोदयेत्।
एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः॥" (पृ० १२०)
"दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वकामोपभोगांस्तु सेवयंश्चाशु सिध्यति॥" (पृ० १३६)

सेकोद्देश टीका[२०] के अनुसार वज्रयान की शिक्षा ऐतिहासिक बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्ध दीपंकर ने दी थी किन्तु इस युग में धर्मग्रहण करने के लिए राजा सुचन्द्र जो सीता नदी पर स्थित शंभल देश का राजा था और वज्रवासी का निर्माणकाय था स्वर्ग गया और संबुद्ध से 'सेकसिद्धान्त' (सेकोद्देश टीका के विषय) की व्याख्या करने की याचना की। संबुद्ध ने धान्यकटक में एक संगीति बुलाई जिसमें सबसे पहले प्रज्ञापारमिता सिद्धान्त की व्याख्या की। यही वज्रयान का स्रोत था।

शंभल और सीता नदी

भोट-ग्रन्थों के अनुसार कालचक्र का प्रचार चीलु नाम के एक विद्वान् के द्वारा नालन्दा महाविहार में हुआ तथा इसका प्रसार वहाँ के उस समय के प्राचार्य नरोपाद के द्वारा हुआ। कहा जाता है कि शंभल का राजा सुचन्द्र ने इसे प्राप्त कर कालचक्र तन्त्र को पुस्तकाकार में लिखा।[२१]

महाशय डे० कोरोस [२२] शंभल को सीता नदी के तट पर मानते हैं। उनके अनुसार सीता आधुनिक चक्षु या आक्सस नदी है जिसे सीर दरिया भी कहते हैं। वायुपुराण के अनुसार सीता सिन्धु रेगिस्तान को पार कर म्लेच्छ देशों से होती हुई चीन, बर्बर, पवन तथा रूषाण देशों से होकर पश्चिमी समुद्र में गिरती है। ये म्लेच्छ जातियाँ एशिया के पश्चिमी भाग में अफगानिस्तान से उत्तर में निवास करती थी।[२३] ब्रह्माण्ड पुराण[२४] में वर्णित स्थानों के नामकरण के आधार पर सीता नदी को आधुनिक आक्सस से पहचान की जा सकती है। महाभारत के अनुसार सीतानदी शाकद्वीप होकर बहती है। अतएव शंभल की पहचान शांभपुर (मुल्तान) से की जाती है जिसे कृष्ण का पुत्र शांभ ने चन्द्रभागा नदी के तट पर बसाया था।[२५]

कालचक्र पर हिन्दू तन्त्रों का प्रभाव

कालचक्र का मूल विचारधारा में तुर्कों का विचार प्रवेश कर गया था। शंभल के राजाओं को कुलीक कहलाना एवं कालचक्र की प्रणाली तथा तुर्कों की तिथि प्रणाली का साम्य होना कालचक्र के सम्बन्ध को इस्लाम तथा मुसलमानों के साथ बतलाते हैं। कालचक्र का मूल उद्देश्य हिन्दुओं के कल्कि अवतार से है।

महाभारत तथा मत्स्य पुराण ने कल्कि के अवतार-कार्य की शैली का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। इनके अनुसार कल्कि का वर्ण हरित पिंगल होगा तथा वे घोड़े पर सवार होकर अपना कार्य सम्पादन करगे। कल्कि के द्वारा विध्वंसनीय दस्यु तथा म्लेच्छों का

---

२० सेकोद्देशटीका की भूमिका, करेल्ली, पृ० ९

२१ ज० ए० सो० वं० भाग ८२, पृ० २२५

२२ वही, (१८३३), पृ० ५७

२३ बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श, पृ० ३३२

२४ ब्रह्माण्ड पुराण, अध्याय ५१

२५ एन० डे, दी ज्योगरफीकल डीक्सनरी आफ एन्सिएंट एन्ड मेडियेभल इन्डिया, पृ० १७६

संकेत हरिवंश[२६] तथा मत्स्य पुराणो[२७] में उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों में कल्कि अवतार को "भाव्यसम्भूत" या 'भाव्य सम्पन्न" बतलाया गया है।

कालचक्र ईसा की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मध्य भारत में और बाद में काश्मीर से होकर तिब्बत में प्रचारित हुआ। तिब्बत में चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में बहुत से विद्वानों ने अनेक भाष्य और टीकायें इस प्रसंग में लिखी जो इस समय भी उपलब्ध हैं।

पद्मकरपो ने नालन्दा में कालचक्र के प्रवर्तित होने की बात लिखी है। नालन्दा बिहार के प्रधान द्वार पर बहुत सी बातें उत्कीर्ण की गयी थी जिनका सम्बन्ध कालचक्रयान के सिद्धान्तों से था।[२८] स्वयं श्री कोरोस ने माना है कि प्राचीन लेखकों द्वारा कहीं भी आदिबुद्ध या कालचक्र उद्धृत नहीं हुए हैं। इनके अनुसार सबसे पहला उल्लेख इस प्रसंग में दसबीं शताब्दी के "कंहग्यूर" में मिलता है।[२९]

श्री वैडेल[३०] का कथन है कि दसवी-शताब्दी में उत्तर भारत, काश्मीर और नेपाल में असुर बुद्धों से युक्त बहुदेवतावादी एक तान्त्रिक संप्रदाय विकसित हुआ। इस संप्रदाय में मन्त्रयान की साधनाएँ भी सम्मिलित की गयी। इसने स्वयं अपने को वज्रयान कहा।

मंत्रयान और वज्रयान महायान की शाखाये हैं। मंत्रयान में मंत्र पदों के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है और वज्रयान में मंत्र एवं वज्र द्वारा निर्वाण का लाभ होता है। शून्य और विज्ञान वज्र तुल्य है। अतः उनका विनाश नहीं होता है। वज्र अद्वैत दर्शन की शिक्षा देता है। सभी सत्व वज्रसत्व हैं। एक ही वज्रसत्व सब जीवों में पाया जाता है।

मंत्रयान और वज्रयान का साहित्य तंत्र कहलाता है। शैव सिद्धान्त के कायिक आगम में बताया गया है कि तंत्र को तंत्र इसलिये कहते हैं कि वह तंत्रमंत्र समन्वित विपुल अर्थों का विस्तार एवं साधकों का त्राण करता है।

मंत्रयान वह यान या मार्ग है जिसमें मंत्रों और धारणियों की सहायता से निर्वाण की प्राप्ति होती है। वज्रयान वह यान है जिसमें केवल मंत्रों एवं धारणियों को ही नहीं

---

२६ १-४१-२५

२७ ४७-२४९

२८ नालन्दा के विहार में जो उपदेश प्राप्त हुए हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) जो आदि बुद्ध को नहीं जानता, वह कालचक्र को भी नहीं जानता,

(२) जो कालचक्र को नहीं जानता, वह दैवी गुणों की यथाक्रम गणना नहीं जानता,

(३) जो दैवी गुणों की गणना नहीं जानता, वह वज्रधर ज्ञान को नहीं जानता,

(४) जो वज्रधर ज्ञान को नहीं जानता, वह तन्त्रयान को नहीं जानता,

(५) जो तन्त्रयान को नहीं जानते, वे जन्म-मरण-चक्र में घूमते रहते हैं तथा भगवान वज्रधर के मार्ग के वे पथिक नहीं हैं,

(६) प्रत्येक लामा के द्वारा आदि बुद्ध की शिक्षा दी जानी चाहिए और प्रत्येक मुक्ति के अभिलाषी के शिष्य को उसे सुनना चाहिए, ज० ए० सो० बं०, भाग १४, १८३३, पृ० ५८

२९ वही

३० एल-ए-वैडेल, बुद्धिज्म आफ तिब्बत, पृ० १५

अपितु वज्र शब्द से अभिव्यक्ति होने वाली सभी वस्तुओं को भी साधन के रूप में व्यवहृत किया जाता है। वज्र शब्द के कई अर्थ हैं। वज्र हीरा है जो सभी प्रकार से कठोर, अप्रवेश्य, अच्छेद्य एवं अविनाश्य वस्तुओं का प्रतीक है। वज्र इन्द्रास्त्र को भी कहते हैं जिसको धारण करने वाले बौद्ध पौराणिक कथाओं में वज्रपाणी के रूप में अवतरित हुये हैं। यह सन्यासी एवं भिक्षुओं का वह अस्त्र भी है जिससे वे विरूद्ध शक्तियों से युद्ध भी करते हैं। पूर्ण अनिर्वचनीय स्वतंत्र सत्य के रूप में माध्यमिकों द्वारा वर्णित शून्य तथा योगाचारियों द्वारा पूर्ण परम सत्य विज्ञान या चित्त अविनाशी होने के कारण वज्र है।

श्री वैडेल की दृष्टि में कालचक्रयान आदि बुद्ध सिद्धान्त का तथा मंत्रयान के सिद्धान्तों का अतिसाम्य तान्त्रिक विकास है। ध्यानीबुद्ध, आदिबुद्ध और भयंकरा काली के संभोग से उत्पन्न होने वाली सृष्टि और प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों की व्याख्या यह यान करता है।[31] जिसमें मूलतः बौद्ध तंत्रों की क्रियात्मक भावना ही सन्निहित रहती है।

बौद्धतन्त्र के (१) क्रियातंत्र (व्यङ्-रग्युद), (२) चर्यातंत्र (सपयोद्) (३) योगतंत्र (रनल्-व्योद), और (४) अनुत्तरयोगतन्त्र (वल-मेद-पही-ग्युद्) ये चार भाग[32] हैं। क्रियातंत्रों में मंदिर-निर्माण, देव मूर्त्तिस्थापना इत्यादि प्रसंगों की धार्मिक विधियों का विवेचन मिलता है। चर्यातन्त्र में व्यावहारिक आचार सम्बन्धी नियमों का विवेचन है। योगतन्त्र मे योगाचार के नियम आदि के प्रसंग में उल्लेख है तथा अनुत्तरयोगतन्त्र में उच्चतर रहस्यवाद का वर्णन मिलता है।

तन्त्र साहित्य में साधनाओं का भी समावेश होता है। साधनाओं में मन्त्रों, मुद्राओं और ध्यान के द्वारा अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियों के अतिरिक्त सर्वज्ञाता एवं निर्वाण की प्राप्ति के उपाय भी बताये गये हैं।

तान्त्रिक उपासना शक्ति की उपासना है। बौद्धों की दृष्टि में प्रज्ञा ही शक्ति का स्वरूप है। इसी का प्रतीक त्रिकोण है। इसमें विशुद्ध छः धातु विद्यमान हैं। अतएव इनके–ऐश्वर्य, समग्रत्व रूप, यश, श्री, ज्ञान तथा अर्थवत्ता ये छः गुण प्रसिद्ध हैं। हेवज्रतन्त्र में प्रज्ञा को भग कहा गया है। इसका नाम वज्रधर-धातु महामण्डल है। यह महासुख का आवास है।[33]

कालचक्रयान के विशेष ग्रन्थ हैं—(१) श्री कालचक्रमूलतन्त्र, (२) सेकोद्देश टीका, (३) परमार्थ-सेवा, (४) विमलप्रभा तथा (५) महाकाल चक्र।[34]

---

३१ एल० ए० वैडेल, बुद्धिज्म आफ तिब्बत, पृ० २५

३२ वही

३३ आचार्य नरेन्द्रदेव के बौद्धधर्म दर्शन में म० म० गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित भूमिका, पृ० ३४

३४ श्रीकालचक्रतन्त्र, महाकालचक्र एव कालचक्रटीका नाम से इस प्रख्यात तन्त्र के ग्रन्थ फोटो रूप में तिब्बत से प्राप्त तालपत्र पाण्डुलिपि की प्रति बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना के पुस्तकालय में उपलब्ध है।

कालचक्रतन्त्र २४० पृष्ठों का पूर्ण ग्रन्थ है। इसका प्रथम पृष्ठ सादा है तथा अन्तिम पृष्ठ पर

श्री कालचक्रमूलतन्त्र में कहा गया है कि सभी वस्तुओं और स्थानों से युक्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इस शरीर में ही स्थित है। काल भी अपने विभिन्न रूपों (दिन, रात, पक्ष, मास,

---

केवल दो पंक्तियां हैं। अन्य प्रत्येक पृष्ठों में छः पंक्तियां हैं। ग्रन्थ की लिपि मिथिलाक्षर है। ग्रन्थ इस प्रकार आरम्भ होता है—

"सर्व्वज्ञं ज्ञानकायं दिनकरवपुषं पद्मपत्रायताक्षं
बुद्धं सिंहासनस्थं सुरवरनिमितं मस्तकेन प्रणम्य।
पृच्छेद्राजा सुचन्द्रः करकमलपुटं स्थापयित्वोत्तमाङ्गे
योगं श्रीकालचक्रे कलियुगसमये मुक्तिहेतोर्नराणाम् ।।"

तथा इसकी समाप्ति इस तरह होती है—

"देय धर्म्मोयं प्रवर महायान याथिनः परमोपासक श्री स्वयम्भु वज्रस्य यदत्र पुण्यन्तद् भवत्वा चार्योपाध्याय माता पितृ पूर्व्वङ्गमं कृत्वा सकल सत्व राशेरनुत्तर ज्ञान फलावाप्तये इति। भगवति परिनिर्वृत्ते ऽष्टाब्दधि काष्टा दश शने त्रयोविंशति दिवसाधिक षण्मासान्विने परमोपासक श्री मुक्तिदासेन लिखितं। शकाब्द—११-८५ शाक्य [मार्ग्गा] दिने च ।।"

इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थ के कर्त्ता श्री स्वयम्भुवज्र तथा इसके लिपिक मुक्तिदास हैं। इस ग्रन्थ की रचना ११-८५ शाक्य दिने अथवा मार्ग्ग दिने या मार्ग्ग महिने में हुई।

श्री कालचक्र तन्त्र की एक अन्य प्रति 'एसियाटिक सोसाइटी', कलकत्ता के पुस्तकालय में उपलब्ध है जो केम्ब्रीज विश्वविद्यालय की तालपत्र-पाण्डुलिपि को फोटो-प्रतिलिपि है। इसमें कुल १२८ पृष्ट हैं। प्रत्येक पृष्ट में छः पंक्तियाँ हैं। ग्रन्थ की लिपि को डा० पी० सी० बागची ने मध्यकालीन बंगला कहा है। ग्रन्थ के इस तरह की समाप्ति :—

"परमभट्टारकेत्यादि राजावली पूर्व्ववद् श्रीमद्विक्रमादित्यदेवपादानामतीतराज्ये सं० १५०३ भाद्रवदि १३ बुधे लिख्यापिनेयं श्रीमद् भिक्षु श्रीज्ञानश्रीकैः। लिखिनेयं मगधदेशीय-कन्सारग्राम शासनिकरण-कायस्थ-श्री जयरामदत्तेनेति ॥" (ज. ए. सो. वं १९५२ (२) पृ. ७१) से ज्ञात होता है कि श्रीज्ञानश्री नाम के भिक्षु ने विक्रम शम्वत १५ ३. (१४४६ ई०) भाद्र त्रयोदशी बुद्धवार को इस ग्रन्थ को लिखा। ग्रन्थ के लेखक मगध के कनसार ग्राम के शासनिक श्री जयराम दत्त नाम के एक करण-कायस्थ थे। अतएव इसकी लिपि के प्रसंग में डा० बागची का विचार उचित नहीं प्रतीत होता है तथा अवश्य ही इसकी लिपि मिथिलाक्षर ही है जो उस समय सम्पूर्ण विहार और बंगाल में प्रख्यात था तथा करण-कायस्थ तो इसके प्रधान पोषक ही थे। ग्रन्थ का आरम्भ पूर्वोक्त क्रम से ही है।

ग्रन्थ पाँच पटलों में समाप्त हुआ है—(१) लोकधातु पटल, (२) अध्यात्म निर्णय, (३) अभिषेक पटल, (४) साधन पटल तथा (५) ज्ञान पटल।

महाकालचक्र ग्रन्थ की पाण्डुलिपि ५६ ताल पत्रों का है। इसमें कुल ११२ पृष्ठ हैं। यह ग्रन्थ भी उपरोक्त श्लोक से ही आरम्भ होता है तथा इसमें भी उपरोक्त पाँच पटल हैं। १४४२ ई० के वर्मा के पगन अभिलेख में महाकालचक्र तथा महाकालचक्रटीका इन दो ग्रन्थों का नाम पाया जाता है (वोदे, दी पाली लिटरेचर ऑफ बर्मा, पृ० १०८) जिससे ज्ञात होता है कि वर्मा में भी कालचक्र तन्त्र का प्रभाव था।

वर्ष आदि) में इस शरीर में प्राणवायु की क्रियाओं के रूप में स्थित है। प्राण और अपान का नियंत्रण ही योग का प्रधान कार्य माना गया है। प्राण और अपान की क्रियायें नाड़ी मण्डल की सहायता से प्रसारित होती है। अतएव योग की सहायता से प्राण एवं अपान के संयम का उपदेश किया गया है।

कालचक्रटीका जो विमलप्रभाटीका के नाम से प्रख्यात है कुल २७७ पृष्ठों में है। इस टीका में कहा गया है कि समयानुसार माँस-भक्षण में दोष नहीं है। इस प्रसंग में टीकाकार की उक्ति इस तरह की है :—

एकस्य प्राणिनो मांसं बव्हभिर्भक्षितं वरम्।
नानेकप्राणिनां मांसं मनुजेनैकेन भक्षितम्॥
भोक्तव्यं योगमुक्तेन करुणामुत्पाद्य तत्त्वतः।
निर्विकल्पेन चित्तेन निरवद्यं नान्यदेव हि॥

कालचक्र के उद्देश्य एवं तथ्यों के प्रसंग में टीका में इस तरह कहा गया है—

नमः श्रीकालचक्राय शून्यताकरुणात्मने।
त्रिभवोत्पत्तिक्षयाभाव ज्ञानज्ञेयैकमूर्त्तये॥
साकारा च निराकृतिर्भगवती प्रज्ञा तयालिङ्गित
उत्पादव्ययवर्ज्जितोऽक्षरपरमसुखो हास्यादिसौख्योज्झितः।
बुद्धानां जनकस्त्रिकायसहितस्त्रैकाल्यसंवेदकः।
सर्व्वज्ञः परमादिबुद्धः भगवान् वन्दे तमेवाद्वयम्॥

कालचक्र का विषय-वस्तु विशेषतः हिन्दू एवं बौद्धतन्त्र से ही साम्य है।

इस प्रसंग में महाकाल तन्त्र की चर्चा उपयुक्त प्रतीत होती है। महाकाल तन्त्र नाम के सत्तर ताल पृष्ठों का एक बौद्धतन्त्र विषयक छाया पाण्डुलिपि ग्रन्थ बिहार रिसर्च सोसाइटी पुस्तकालय के एलबम संख्या १० पृष्ठ २०।२ से पृष्ठ-संख्या २८।१ में सुरक्षित है। ग्रन्थ का प्रारम्भ गद्य से होता है—

"नमो महाकालाय। एवं मया श्रुतमेकस्मिन् समये भगवान देवो त्रिकोणेपु-कायवाक्चित्त विहरेदिति। भगवानाह, वज्रदेह स्थिरेण वै तथतां परिसेवणीयां किं न सिध्यति भूतले।······

कथं भवेन्महाकालः। महान्तं कालं यस्य शरीरे बिभेने स एव महाकालः। काल संख्यात गणनेति महाकालोहं। एवं कारेषु सर्वं प्रतिष्ठितं। एकारं यथा योगोत्पत्ति स्थान येन बुध्यने बोधः।······

महाकाल तन्त्रे देवी सम्पुट पृच्छा पटलः प्रथमः" आदि रूप में इस ग्रन्थ का प्रथम पटल समाप्त होता है। इसके अन्तिम पटल में "शर्वरी मन्त्र" का विधान—"अथ शर्वरी मन्त्रं प्रवक्ष्यामि, ओं सर्व मन्त्र निदानं क्षेमं रं हं चः उः। अयं मन्त्र राजः सकृत दुर्वारित मात्रेण सर्वं पापानि क्षयं यान्ति ध्रुवं। सर्वं अवहेला मात्राव" आदि रूप में है। ग्रन्थ की समाप्ति "इति श्री महाकालतन्त्रराजे शर्वर पञ्चाशत पटलः समाप्तः" से होती है।

ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठ नष्ट हो जाने के कारण उसके प्रणेता के विषय में यद्यपि कुछ अनुमान करना दुष्कर है तथापि सौभाग्यवश इस ग्रन्थ का लेखन काल इस तरह—"परम सौगत परम भट्टारक महाराजाधिराज श्रीमन्मदनपालदेव पादीय सवत् ५ प्रस्त" तक का पृष्ठ अवशिष्ट है।

सेकोद्देशटीका में चार प्रकार के योगों—विशुद्धयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग का वर्णन है। इन्हें क्रमशः सहजकाय, धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय भी कहते हैं। विमलप्रभा ने इन्हे ज्ञानवज्र, चित्तवज्र, वाग्वज्र और कायवज्र कहा है।

ग्रन्थ में पचास पटल हैं। प्रथम "देवी संपुट पृच्छा" नामक पटल ग्रन्थ की उपक्रमणिका कही जा सकती है। द्वितीय पटल "मन्त्रपटल" इसका विधान मानवों की प्राण-रक्षा तथा विघ्न-बाधाओं को नाश कर सुख-प्राप्ति के निमित्त की गयी है। इस उद्देश्य से इस पटल में—जनानां प्राण रक्षाय विघ्नदिनाशकादेव एवंकारे समाश्रिता महाकालोद्दिशेद्बलिं" आदि वाक्य में महाकाल को बलि देने की भी चर्चा है। इसके बाद "जय पटल" नाम का तृतीय पटल में स्तम्भ, उच्चाटन, मारण, मोहन, विद्वेषण आदि अभिचारों का उल्लेख एवं मन्त्र सिद्धि का विधान है। चौथे पटल में आनन्द, परमानन्द, चिरमानन्द तथा सहजानन्द इन चार आनन्दों का वर्णन है। इसके बाद इसमें 'वज्राभिषेक की चर्चा है। इस पटल को "वज्राभिषेक पटल" कहा गया है। पञ्चम पटल "देवताभिषेक" छठा "परिचर्या पटल", इसके बाद "देवतोत्थान पटल" नाम का सातवाँ पटल, "सत्वार्थ उपार्जन निश्चय" नाम का आठवाँ पटल, तथा "गुटिक पटल" नाम का नवाँ पटल है। इस पटल में काय, वाक एव चित्त की एकाग्रता के प्रसंग में उल्लेख है। इसमें '"गु" का काया 'टि" का वाक्; तथा "क" का अर्थ चित्त किया गया है। इसके बाद "पादुक पटल" नाम का दशवाँ पटल; 'देवी प्रभा मण्डित" नामक ग्यारहवां पटल; "अञ्जन पटल" नामक बारहवाँ पटल है। इस पटल में अञ्जन बनाने की प्रक्रिया एवं उससे कार्यों की सिद्धि के विषय में उल्लेख है। इस तरह के अंजन को लगाने से खेचरी सिद्धि होती है तथा साधक को आकाश मध्य गृध्र के समान भ्रमण करने की शक्ति प्राप्त होती है।

इसके बाद तेरहवें पटल में जम्बूद्वीप का वर्णन तथा चौदहवें में विविध मन्त्रों की व्याख्या के प्रसंग में वर्णन है। तत्पश्चात् "राज्यानुष्ठान" नाम का पन्द्रहवें पटल में राजाओं एवं उनके द्वारा शासित भूभागों के प्रसंग में उल्लेख है। "वश्योऽनुपूर्वं" सोलहवाँ; "शक्तिसाधन" सत्रहवाँ तथा "अभिषेक क्रम" नामक अठारहवाँ पटल है। उन्नीसवाँ एवं बीसवाँ पटल इस पाण्डुलिपि ग्रन्थ में नहीं हैं। इसके बाद 'राजर्पयवर्त्ति जय" इक्कीसवाँ पटल; "व्याहत पटल" बाइसवाँ पटल है। इस पटल में कालिका मन्त्र का विधान है। इसके बाद 'निर्णय पटल" तेइसवाँ, 'सारण पटल" चौबीसवें तथा पचीसवें पटल में भी सारण मन्त्रों का ही विधान है। छब्बीसवाँ पटल "ज्योतिषिक" पटल; सताईसवाँ "स्फारन देवता" तथा "स्थिरीकरण" नामक अट्ठाईसवाँ पटल है। उन्तीसवें पटल से तेतीसवे पटल के अंश नहीं उपलब्ध हैं।

चौतीसवाँ पटल "कुमारी ज्योतिषिक पुटपटल'; "कुमारी लक्षण विधि" पैंतीसवाँ पटल; "वर्णावास पटल" छत्तीसवाँ पटल; 'वर्ण विवरण" नामक सैंतीसवाँ पटल है। इसके बाद "हवन पटल" नाम का अड़तीसवाँ पटल है। "भोजन युक्त (प्रश्न) विशुद्धि पटल" उन्चालीसवाँ, "बाधार्णव" चालीसवाँ; "निर्णय" इकतालीसवाँ; "पशु विधारण' नामक पटल बयालीसवां "त्रिगाथा" तेतालीसवाँ; "योग" पटल चवालीसवाँ; "गरचक्र विधि पैतालीसवाँ; "वार विधारण" छियालीसवाँ; "नक्षत्र पटल" सैंतालीसवाँ इसके बाद अड़तालीसवाँ एवं उन्चासवाँ पटल है। ग्रन्थ का अन्त का पटल "शर्वरी" पटल है। इस प्रकार पचास पटलों में यह ग्रन्थ समाप्त होता है जिसकी कथावस्तु कालचक्र के कथावस्तु से मिलती-जुलती है।

पूर्णता के मार्ग में आगे बढ़ने के लिये योग ही श्रेष्ठ हैं। योग लाभ से पहले विमोक्ष लाभ करना पड़ता है। विमोक्ष लाभ का उद्देश्य कल्पनादिक से तथा आवर्जताओं से मुक्त होना है। ध्यान से विमोक्ष की प्राप्ति होती है और विमोक्ष से योग सिद्ध होता है। विमोक्ष-शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित, और अनभिसंस्कार ये चार प्रकार के हैं।

विशुद्ध योग के पहले शून्यता नाम का विमोक्ष प्राप्त करना पड़ता है। शून्यता अतीत एवं अनागत ज्ञेयों से शून्य है। इसे प्राप्त करने पर तुरीय अवस्था का क्षय होता है। करुणा का लक्ष्य ज्ञानवज्र है। इसी का रूपान्तर सहजकाय है जो प्रज्ञा और उपाय की साम्यावस्था है। इसीका रूपान्तर विशुद्ध योग है।

धर्मयोग के लिये अनिमित्त विमोक्ष की अपेक्षा होती है। बुद्ध, बोधि प्रभृति विकल्पमय चित्त से ज्ञान ही को अनिमित्त विमोक्ष कहते हैं। इसकी प्राप्ति से सुषुप्ति की दशा नहीं रहती है तथा नित्य अनित्यादि द्वय से रहित मैत्रीरूप चित्त में उदित होता है। यह चित्त-वज्र धर्मकाय नाम से प्रसिद्ध है जिसे ज्ञानकाय भी कहते हैं।

मन्त्रयोग के लिये अप्रणिहित विमोक्ष आवश्यक है। निमित्त के अभाव से तर्क का अभाव होता है। वितर्कचित्त के अभाव से प्राणिधान का उदय नहीं होता। इसीलिये यह अप्रणिहित है। इस प्रकार के विमोक्ष से स्वप्न-क्षय होता है तथा भीतर अनाहत ध्वनि सुन पड़ती है। यही मन्त्र नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही वाग्वज्र या संभोगकाय कहते हैं।

संस्थानयोग के लिये अनभिसंस्कार नाम का विमोक्ष अपेक्षित है। प्राणिधान नहीं रहने से अभिसंस्कार नहीं रहता। श्वेत रक्त प्राणायाम विज्ञान ही अभिसंस्कार है। इस विमोक्ष के प्रभाव से विशुद्धि होती है। इसीसे जाग्रत अवस्था का क्षय होता है और अनन्त निर्माणकाय का स्फुरण होता है।

तान्त्रिक बौद्धों के षडङ्ग योग का विवरण गुह्यसमाज तथा कालचक्र में पाया जाता है। सेकोद्देशटीका में भी इसकी चर्चा आयी है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति एवं समाधि ये षडङ्ग योग हैं। दश-इन्द्रियों का अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूपमात्र में अनुवर्त्तन प्रत्याहार है। प्रत्याहार के समय इन्द्रियों की विषय-भावापत्ति या विषय-ग्रहण नहीं रहता है। प्रत्याहार का फल वैराग्य, त्रिकाल दर्शन, धूमादि, दश निमित्तों के दर्शन की सिद्धि है। शुद्ध आकाश में धूम, मरीचि, खद्योत, दीपकलिका, चन्द्र-सूर्य या विन्दु के दर्शन निमित्त दर्शन हैं। इन दर्शन को स्थिर होने पर मन्त्र साधक के अधीन हो जाता है। इससे वाक् सिद्धि होती है।

प्रत्याहार से विंव-दर्शन होने पर ध्यान का प्रारम्भ होता है। यह योग का दूसरा अंग है। स्थिर तथा चर अर्थात् यावत् चरा-चर भाव को पंचकाम कहा जाता है। पंच-बुद्ध के प्रयोग से सब भावों में बुद्ध की कल्पना करना ही ध्यान है। ध्यान के बाद तीसरा अंग प्राणायाम है। मनुष्य का श्वास पंचज्ञानमय है और पंचभूत उनका स्वभाव है। इसको पिण्ड रूप में निश्चल करके नासिका के अग्रभाग में कल्पना करने की क्रिया को महारत्न कहते हैं। अक्षोभ्य प्रभृति पंचबुद्ध पंचज्ञान स्वभाव है। विज्ञानादि पंचस्कन्ध ही इनका स्वरूप है। बायें तथा दाहिने नासापुटों में श्वास का प्रवाह होता है। इन दोनों प्रवाहों के एकीभूत होने पर वह पिण्डकार हो जाता है। इसी पिण्ड को नासाग्र पर स्थिर करना पड़ता है। पहले प्राण-वायु को मध्य मार्ग में निश्चल करना पड़ता है तब नासिकाग्र में।

इसे नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट तथा उष्णीषकमल की कर्णिका में स्थिर किया जाता है। महारत्न पंचवर्ण है। वाम तथा दक्षिण प्रवाह निरोध करके केवल मध्यमा में उसे प्रवाहित करना पड़ता है। इस प्रकार के निरुद्ध प्राणवायु पंचवर्ण महारत्न कहलाता है। वज्रयानी इस प्राणायाम को "वज्र जाप" कहते हैं। धारणा चौथा अंग है। अपने इष्ट मन्त्र प्राण को हृदय में ध्यान करते हुये उसे ललाट में निरुद्ध करना, हृदय से अर्थात् कर्णिका से हटाकर कर्णिका के मध्य में स्थापित करना तथा बिन्दु स्थान ललाट में इसका निरोध करने की क्रियाओं को धारणा कहते हैं। उस समय प्राण का संचारण अर्थात् श्वास-प्रश्वास नहीं रहता है। पंचम अंग अनुस्मृति है। प्रत्याहार तथा ध्यान से त्रिधातु को प्रतिभासित करनेवाले संवृति सत्य की भावना को निश्चल की जाती है। अनुस्मृति का उद्देश्य है संवृति सत्य की भावना का स्फुरण करना। इसके प्रभाव से एक देश वृत्तिक आकार जो संवृत्ति सत्याकार है, समग्र आकाशव्यापी रूप से परिपुष्ट होने लगता है। इससे त्रिकालस्थ समग्र भुवन के दर्शन होते हैं। यही अनुस्मृति है।

इस योग का षष्ट अङ्ग समाधि है। प्रज्ञोपाय समाप्ति के द्वारा सर्वभावों का समाहार करके पिण्ड योग से बिंब के भीतर भावना करनी पड़ती है। ठीक-ठीक भावना करने पर अकस्मात् एक ही क्षण में महाज्ञान की निष्पत्ति हो जाती है। यही समाधि[३५] है।

बौद्ध-धर्म में योग और चर्या में आगम का प्रभाव कब और किस रूप में पड़ा यह कहना कठिन है। कहा जाता है कि यह बीज रूप में ·प्राक्-ऐतिहासिक काल से ही प्रचलित था। योग सूत्रों के रचयिता पतंजलि ने स्वयं अपनी रचना को "अनुशासन" कहा[३६] है। 'अथ योगानुशासनम्' के 'अनु' उपसर्ग से प्रकट होता है कि पतंजलि ने किसी पूर्व परम्परा का अनुशरण किया है।[३७] इससे तात्पर्य यह होता है कि पतंजलि के पूर्व भी भारत में योग साधना प्रचलित थी।

ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक यौगिक साधना के अनेकों संकेत मिलते हैं। युक्त करने के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में मिलता[३८] है। इन मन्त्रों में ऋषियों की तपस्या एवं तापस की महत्ता का वर्णन है। प्राण या वायु को आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर में व्याप्त माना गया है। संधि या योग, क्लेश देना, अप्राप्य को प्राप्य करना तथा जुड़ने या मिलने के अर्थ में ऋग्वेद के मन्त्रों में "योग" शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता[३९] है। ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों की अपेक्षा आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों में "योग" शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है। जो दश या ग्यारह उपनिषद् अत्यधिक प्राचीन हैं उनमें से कुछ ही बुद्ध के पूर्व के हैं।[४०]

---

३५ आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध-धर्म दर्शन की भूमिका पृ० ३९

३६ योग सूत्र, प्रथम समाधि पाद १, पृ० १

३७ पातञ्जल दर्शन, पृ० १२६—
अनुशासन मिति हि शास्त्रमाह। अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षण भेदो पाय फल सहितो योगो येन तदनुशासन मिति व्युत्पत्तेः।

३८ ऋग्वेद १, ३४.९; ७.६७.८; ३.२७.११

३९ ११-५-८

४० ए. ए. मैक्डानेल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २१८

श्री बेल्वलकर और रानाडे महोदय ने वैदिक जातियों की विभिन्न प्रकार की गुह्य क्रियाओं में योग के लक्षण दिखाते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उस समय भी ध्यान, चित्तैकाग्रता, आध्यात्मिक साधना आदि को लोग शारीरिक एवं मानसिक प्रभाव डालनेवाला मानते थे। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के १३६ वें सूक्त में योग शब्द से इसी ओर संकेत किया गया है।[४१] उपनिषदों ने अपने योग का अध्यात्म योग कहा है। कठोपनिषद के अनुसार अध्यात्म योग का प्रयोग अन्तर्ज्ञानात्मक आत्मसाक्षात्कार के लिये किया जाता[४२] है। आत्मसाक्षात्कार के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि और कठ में उपलब्ध होता है। कठोपनिषद् में—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

इस तरह का योग का पारिभाषिक ढंग से वर्णन है जिसका अर्थ होता है कि जब पंच ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती है, मन भी उसके साथ विश्रांत हो जाता है तथा उत्तरमानस (बुद्धि) भी जब निश्चेष्ट हो जाता है तब उसी को 'परमगति' कहते हैं। उस स्थिर अवस्था को जब इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं योग कहते हैं। उस समय साधक अत्यधिक अप्रमत्त हो जाता है क्योंकि योग ही भव (उत्पत्ति) और विभव (नाश) है।[४३]

भगवान बुद्ध के जीवन के अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सन्यास धारण करने के बाद योग की शिक्षा ली थी। मज्झिमनिकाय के अनुसार बुद्ध ने स्वयं सुंसुमार गिरि में वत्सराज उदयन के पुत्र बोधिराजकुमार से कहा था—"मैं सुन्दर यौवन से सम्पन्न प्रथमवयस में माता पिता को अश्रुमुख छोड़कर घर से प्रव्रजित हुआ था। आलार कलाम के पास गया। आलार कलाम ने मुझे योग की कुछ विधियाँ बतलाई।"[४४] ललित-विस्तर के अनुसार भगवान बुद्ध के समय देश में योग के अनेक पद्धतियाँ थीं।[४५] पतंजलि नें सिर्फ योग के सूत्रों का विन्यास किया था।[४६]

कहा जाता है कि काल या प्राणायाम की इस प्रकार की साधना का विवेचन काश्मीर के तान्त्रिक शैवग्रन्थों में भी मिलता है। तन्त्रालोक के षष्ठ परिच्छेद में स्पष्ट रूप से इन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। अभिनवगुप्त ने इन सिद्धान्तों को तान्त्रिक शैव परम्परा में ही ग्रहण किया है। उसमें काल के विभिन्न रूपों का वर्णन प्राण और अपान की विविध

---

४१ बेल्वलकर और रानाडे, हिस्ट्री आफ इन्डियन फिलासफी, भा० २, पृ० ४०५-६

४२ कठोपनिषद्-एट उपनिषद्स—श्री अरविन्दो—अँग्रेजी अनुवाद सहित, अध्याय १, वल्ली २, मन्त्र १२, पृ० ५८—

तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति॥१२॥

४३ वही, २-३-१०-११, पृ० ८८

४४ मज्झिमनिकाय, भाग २, पृ०-९२-९३

४५ डा० राधाकृष्णन, इनडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३५५-३५६

४६ एच० कर्ण, मैनुएल आफ इन्डियन बुद्धिज्मि, पृ० ११-१८

क्रियाओं के रूप में किया गया है। ये क्रियायें नाड़ी-मण्डल की सहायता से प्रसारित होती हैं। अतएव योग की सहायता से प्राण और अपान के संयमन का उपदेश किया गया है। इन्हीं सिद्धान्तों को आधार मानकर तान्त्रिक बौद्ध संप्रदाय ने अपने नवीन यान कालचक्रयान का प्रवर्तन किया।[४७]

कालचक्रयान का प्रधान देवता आदिबुद्ध है। आदि का अर्थ है, आदि-अन्त-विवर्जित। आदिबुद्ध सर्वज्ञ है। वज्रयान के बुद्ध की तरह इनके भी चार काय हैं—सहजकाय, धर्मकाय, संभोगकाय, और निर्माणकाय। सहजकाय अर्थात् आदिबुद्ध के वास्तविक काय की प्राप्ति के लिये यौन-यौगिक साधना को स्वीकार की गयी है। उपास्यदेव को करुणा शून्यता की मूर्त्ति माना गया है। उनकी देवी प्रज्ञा या काली है।

हिन्दू तन्त्रों के अनुसार शिव और शक्ति के समायोग से उत्पन्न सतत् परिवर्त्तनशील विश्व का प्रतीक चक्र है। कालचक्र में दो तत्व हैं—काल और चक्र। बौद्ध ग्रन्थों की परम्परा की दृष्टि से विचार करने पर कालचक्रयान में काल, उपाय तथा करुणा एक दूसरे के प्रर्याय प्रतीत होते हैं। आस्तिक ग्रन्थों में इन्हें ही शिव और पुरुष कहे गये हैं। इन्हें ही ज्ञाता और बुद्ध कहते हैं। चक्र, प्रज्ञता और शून्यता भी एक ही तत्व के पर्याय हैं। इसी को प्रकृति या शक्ति कहते हैं। यही ज्ञेय है। आदि बुद्ध सर्वज्ञ हैं और इस यान के उपास्य हैं। इन्हें ज्ञाता, ज्ञेय, उपाय तथा प्रज्ञा, शून्यता तथा करुणा का परम एकात्मरूप माना जाता है। कालचक्र या युगलरूप युगनद्ध शिव-शक्ति की एकता का प्रतीक है।[४८] साधनात्मक दृष्टि से इस ग्रन्थ में चार प्रकार की विशुद्धि—ज्ञान-विशुद्धि, चित्तवज्र-विशुद्धि, वाग्विशुद्धि और काय-विशुद्धि बताई गयी हैं।

सेकक्रिया शुद्धि के लिये ही की जाती है। सेकक्रिया के बाद गुरु वज्र और घण्टा शिष्य के हाथ में देता है। वज्रानियों के पाँच ध्यानी बुद्धों की जो कल्पना की गयी है उनसे छठा वज्रसत्व हैं। उनका प्रतीकास्त्र वज्र और घण्टा है। इस प्रकार की क्रिया करने के बाद गुरु साधक को बुद्ध-कुल में सम्मिलित करता है। अभिषेक सम्बन्धी सभी तान्त्रिक क्रियाओं और विधियों का विवेचन कालचक्र के ग्रन्थों में मिलता है जिसे इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं—

(१) सहजकाय, करुणा, ज्ञानवज्र, विशुद्धियोग, तुरीय।
(२) धर्मकाय, मैत्री, चित्तवज्र, धर्मयोग, सुषुप्ति।
(३) संभोगकाय, मुदिता, वाग्वज्र, मन्त्रयोग, स्वप्न।
(४) निर्माणकाय, उपेक्षा, कायवज्र, संस्थानयोग, जाग्रत।[४९]

वज्रयान की विचार धाराओं में विवेचित तान्त्रिक बौद्धयोग की रूप-रेखा से इसकी तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि साधक की अंतिम सिद्धावस्था महासुखावस्था है। इसे ही तुरीयावस्था भी कहते है। इसी अवस्था में करुणा का उदय चित्त में होता है। यही अवस्था विशुद्धियोग से प्राप्त होती है। इसी अवस्था में ज्ञान की दृढ़ता तथा सहजानन्द की प्राप्ति होती है तथा प्रज्ञा और उपाय का भेद नहीं रहता है। इस स्थिति में हीन, मध्य और उत्कृष्ट सब कुछ तत्वभाव में समरूप में दिखाई देते हैं। प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही वज्रयोग है। यही कालचक्र नामक आदिबुद्ध का सिद्धान्त है।

४७ प० बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन, पृ० ४५८
४८ वही, पृ० ४५९-६०
४९ वही, पृ० ४५७-६०

सामरस्य शब्द से साधारणतः समभाव की प्रतीति होती है। सामरस्य अवस्था को अद्वय अवस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में दो या अनेक का वैषम्य नहीं रहता है। सामरस्यभाव के उदय होने पर जीव की भक्तिरूपा शक्ति शिव की चित्त शक्ति के साथ समान रूप से मिल जाती है। इस भक्ति का नाम सामरस भक्ति है। श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव और आनन्द के वाद सामरस भाव उदित होता है। जीव तब जीव रहकर भी शिव के समान हो जाता है।

शिव और शक्ति के सामरस्य के सदृश गुरु और शिष्य का भी सामरस्य आवश्यक है। शिष्य जिस प्रकार गुरु स्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त करता है गुरु भी ठीक उसी प्रकार शिष्य स्वरूप में विश्रान्त होते हैं। कामकला विज्ञान के अनुसार कामकला के श्वेत बिन्दु और रक्त बिन्दु दोनों में परस्पर बिहार करनेवाले शिव और शक्ति का निरन्तर संकोच और प्रसार क्रम चल रहा है। इन दो बिन्दुओं से ही चार प्रकार की वाक् और ३६ प्रकार के तत्व रचे जाते हैं। ये ही बिन्दु परस्पर अनुपविष्ट और पृथक् भूत हैं। ये दो बिन्दु ही काम-कामेश्वरी रूप दिव्य मैथुन हैं। अनुत्तर या परमेश्वर स्वाङ्गभूत निखिल प्रपञ्च विलयरूप विमर्श शक्ति अनुप्रविष्ट होकर बिन्दुत्व को प्राप्त होते हैं।

यह बिन्दु अकार वाच्यप्रकाश और हकार वाच्यविमर्श इस दिव्य दम्पत्ति या मिथुन का समरसाकार है। समरस शब्द से परस्परानुप्रवेश रूप आनुकुल्यमय की प्रतीति होती है। यह रवि ही शुक्ल और रक्त दो बिन्दुओं का समरसीभूत मिश्रबिन्दु है। यही सब का स्वात्मा है।[५०]

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कालचक्रयान पर हिन्दू तन्त्र का प्रभाव था। काश्मीर से होकर इस मत के तिब्बत में प्रचारित होने तथा काश्मीर इसका प्रचार स्थल होने के तथ्य के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। डाकार्णव के सिद्धान्तों का मूल आधार वह योगाचार मत माना गया है जिसमें चित्त को सर्वाधिक महत्ता प्राप्त है। मन ही मोक्ष और बन्धन दोनों का कारण है। कामना या वासना ही मृत्यु है। काम या वासना के अवरोध से ही बोधिचित्तोत्पाद होता है। इसीसे निर्वाण की प्राप्ति तथा जन्ममरण के चक्र से मुक्ति मिलती है। इस तन्त्र में प्रज्ञोपाय से सिद्धि प्राप्त करने की बात कही गयी है। इस तन्त्र का कथन है कि सहज रूप से आनन्दित करनेवाली डाकिनी के संयोग से जरामरण के प्रतिभास दिखाई नहीं देते।[५१] हिन्दू तन्त्र में जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी में शिवशक्ति तत्व माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी कहा गया है कि सभी मनुष्य बोधि स्वभाव संयुक्त हैं।

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में प्राण-अपान की तान्त्रिक साधना तथा कालसिद्धान्त का विवेचन किया है। अभिनवगुप्त का समय ९९३-१०१५ ई० माना जाता है।[५२]

वज्रयान तथा कालचक्रयान के विषय में ऐतिहासिक विद्वान तारानाथ का विश्वास था कि तन्त्रों के प्रथम प्रकाशन के बाद दीर्घकाल तक गुरु-परम्परा के क्रम से यह प्रचलित था। इसके बाद सिद्ध और वज्राचार्यों ने इसे प्रकाशित किया।[५३] वैडेल ने तारानाथ का

---

५० म० म० डा० गोपीनाथ कविराज, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० १६८-१६९

५१ 'डाइनि सहज रूइ आनन्दइ जरण मरण पडिहासि न दिस्सइ', डाका०, पृ० १२६

५२ जगदीशचन्द्र चटर्जी, काश्मीर शैविज्म, भाग १, पृ० ४०

५३ आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म दर्शन की भूमिका, पृ० ४५

जन्म १५७३ ई० माना है।[५४] अतएव भारतवर्ष में तन्त्र-मन्त्र का प्रचलन किसी-न-किसी रूप में अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था से ही था।

तिब्बत में कालचक्र का प्रचार

तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार यद्यपि सम्राट स्रोङ्-व्चन्-गस्म्-पो (५५७ ई०)[५५] के समय में हुआ किन्तु इसकी नींव सम्राट ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् के समय में दृढ़ हुई। कहा जाता है कि आठवी शताब्दी में जब तिब्बत में अनेक प्रकार के भूत-प्रेतों का उपद्रव होता था तो सम्राट ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् ने उदयन से पद्मसम्भव को तिब्बत आने का आमन्त्रित किया। सम्राट के आमन्त्रण पर पद्मसम्भव तिब्बत गये तथा अपने दिव्य अस्त्र "वज्र" (दोरजे–Dorje) से उन भूत-प्रेतों को नष्ट किया। उनका अलौकिक गुण अनेक व्यक्तियों को आकृष्ट किया तथा वे उनके अनुयायी बन गये जो वज्राचार्य तथा उनका सिद्धान्त वज्रयान कहलाया। ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् के संरक्षण में पद्मसम्भव ने ७४९ ई० में तिब्बत का सबसे पहला बिहार ब्सम् यस का बनाया जिसका सबसे पहला अधिपति शान्तरक्षित[५६] हुआ।

यद्यपि शान्तरक्षित तिब्बत का सबसे पहला भिक्षु था किन्तु वहाँ अधिक श्रेय पद्मसम्भव को ही है जिन्हें तिब्बत में "रिन-पो-चे" (Rin-po-che) या "लो-पोन" (Lo-Pon) अर्थात् "गुरु" कहा जाता है। इसका कारण उनका जादू तथा मन्त्रों में असाधारण निपुणता है।

अन्य कार्यों से निवृत्त होकर आचार्य शान्तरक्षित ने बौद्धग्रन्थों के अनुवाद की ओर ध्यान दिया। आचार्य शांतरक्षित के अनुवादित ग्रन्थों में दिङ्नाग विरचित 'हेतुचक्र' भी है जिसे उन्होंने लो-च-व धर्मकोष की सहायता से अनुवादित किया[५७] था। पीछे आचार्य विमल मित्र, बुद्धगुह्य, शान्तिगर्भ, और विशुद्धसिंह ने भोट-देशीय लो-च-व, धर्मालोक (बन-दे), र्नम्-मखऽ, रिन्-छेन-स्दे आदि तिब्बतीय विद्वानों की सहायता से कितने ही ग्रन्थों के अनुवाद किये।[५८] सम्राट ख्रि-ल्दे-ब्चन्-पो या सद्-न-लेग्स् (७८७-८१७) अपने भाई मुनि ब्चन्-पो के मृत्यु के बाद तिब्बत के सिंहासन पर बैठा। इन्होंने अनुवाद करनेवाले भारतीय पंडित जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, शीलेन्द्रबोधि, दानशील आदि को अनुवाद का नियम एवं प्रतिशब्दों की तालिका बनाने के प्रसंग में परामर्श दी तथा उसके अनुसार अनुवाद करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार नवीं शताब्दी के मध्य से संस्कृत ग्रन्थों के नियमानुसार अनुवाद भोट-भाषा में होने लगा। इस समय के अनुवादों में कुछ तन्त्र ग्रन्थों का अनुवाद भी पाये जाते हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम पाद में तिब्बत में बौद्धधर्म में बहुत बिकार पैदा हो गये। ऐसे तो बौद्धधर्म का वज्रयान रूप ही वहाँ प्रचारित हुआ था तथापि इस समय इसका तान्त्रिक रूप चरमसीमा पर पहुँच गया था तथा भिक्षु मद्य और व्यभिचार को ही परम धर्मचर्या मानने लगे थे। अतएव राजभिक्षु ज्ञानप्रभ ने विक्रमशिला बिहार के दीपंकर

---

५४ एल० ए० वैडेल, बुद्धिज्म आफ तिब्बत

५५ राहुल सांकृत्यायन, तिब्बत में बौद्धधर्म, पृ० ८-१०

५६ एल० ए० वैडेल, बुद्धिज्म आफ तिब्बत, पृ० २४

५७ राहुल सांकृत्यायन, तिब्बत में बौद्धधर्म, पृ० १२

५८ वही, पृ० १५

श्रीज्ञान को तिब्बत बुलाने का आमन्त्रण दिया। किन्तु उन्होंने अपनी स्वीकृति नहीं दी। पीछे उनकी मृत्यु के बाद राजभिक्षु बोधिप्रभ के निमन्त्रण पर वे १०४२ ई० में तिब्बत गये। वहाँ उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का लो-च-व की सहायता से तिब्बतीय भाषा में अनुवाद किया। १०५१ ई० में दीपंकर ने 'कालचक्र' पर अपनी टीका भी लिखी।[५९] दीपंकर श्रीज्ञान के पहुँचने से कुछ पूर्व काश्मीरी पंडित सोमनाथ (१०२७ ई०) भोट गये। रग्य-चो-स्-वङि-ऽोद्-सेर की सहायता से इन्होंने 'कालचक्र ज्योतिष' को भोटभाषा में अनुवाद किया और तभी से भोट देश में वृहस्पति चक्र के ६० संवत्सरों का नया क्रम जारी हुआ। साठ संवत्सरों के एक चक्र को भोट भाषा में रब्-ऽब्युङ् (प्रभव) कहते है। यह प्रभव हमारे यहाँ के भी षष्ठी संवत्सर चक्र का आदिम संवत्सर है।[६०]

बारहवीं शताब्दीं में चौरासी सिद्धों के बहुत से हिन्दी दोहों और गीतों के भी भोट भाषा में अनुवाद हुये जिनका सम्बन्ध वज्रयान एवं सहजयान से है।

तेरहवीं शदी के अन्त में भारत के बौद्ध केन्द्रों से बौद्धधर्म का अन्त हो गया। अब भोट देश को भारत से विचारों का आदान-प्रदान नहीं रहा तथा भोट में भी अब प्रभावशाला महंतशाहियों की प्रतिद्वंद्विता का समय आरंभ हुआ। इस समय तक जितने भी भारतीय ग्रन्थ भोट भाषा में अनुदित हुये थे, उनको क्रमवद्ध संग्रहित करने का काम नहीं हुआ था। अतएव सभी अनुवादित पुस्तकों का न किसी को पता ही था और न वे एक जगह मिल ही सकती थीं। ऐसे समय, १२९० ई० में बु-स्तोन (रिन-छेन-ग्रुव) का जन्म हुआ। इन्होंने अपने समय तक के सभी अनुवादित ग्रन्थों को एकत्रित कर क्रमानुसार दो महान् संग्रहों में जमा किया जो "कन-जुर" और "तन-जुर" के नाम से प्रसिद्ध है।[६१]

बु-स्तोन ने समालोचना, क्रमानुसार, तान्त्रिक चक्र आदि के ऊपर अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया जो वस्तुतः मनुष्य जीवन के मानसिक दोष को दूरकर सैद्धान्तिक ज्ञान के अभ्युदय के कारणस्वरूप हैं। इन्होंने तन्त्रशास्त्र के ऊपर तीन--रग्युद्-स्दे-स्पयी-र्नम्-व्ऽसुस्-प-रग्युद-स्दे-रिनपो-चे गतेर्-स्गो-एबएद्-पई-स्दे-मिग, रग्युद्-स्दे-स्पयी-र्नम्-रग्यस्-प-रग्युद्-स्दे-रिन-पो-चे-र्दसेस-रग्यन्, तथा रग्युद-सदे स्पयी-र्नम्-ऽबसीन्-पो-रग्युद-स्दे-त्मस् चद्-क्यी-ग्सन्-ब-गसल्-बर-वयेद्, नाम के ग्रन्थों में तन्त्रशास्त्र के तह तक पहुँचने का प्रयास कर क्रमानुसार विविध तन्त्रों का वर्गीकरण किया है। बु-स्तोन ने कालचक्र का सम्बन्ध भारतीय एवं इरानियों के ज्योतिष के सिद्धान्तों से स्थापित कर कालचक्र एवं इसके प्रसिद्ध विमलप्रभाटीका पर पाँच भागों में एक वृहद तान्त्रिक कोष की रचना कर, कतिपय स्कन्धों में इसके प्रमुख तथ्यों को सुलझाते हुये व्याख्या की है। इन्होंने "षडंगयोग" (स्व्योर-द्रुग) की उपयोगिता की व्याख्या एवं तिब्बत में कालचक्र के प्रचार के प्रसंग में ऊल्लेख किया है।[६२]

बु-स्तोन के देहान्त के सात वर्ष पूर्व १३५७ ई० में अम्-दो प्रान्त में चोङ-ख ग्राम में एक मेधावी बालक उत्पन्न हुआ जिसका भिक्षुनाम यद्यपि ब्लो-ब्सङ्-ग्रग्स्-प (सुमतिकीर्त्ति) है, किन्तु वह अपने जन्मभूमि चोङ्-ख-प के ही नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने कालचक्र एवं इसकी विमलप्रभाटीका पर—स्तोन-प्रग् वचु-गनिस्-प-द्री-म-मेद्-पई-ओद-क्यी-दकऽ-

---

५९ वही, पृ० २४-२५

६० वही, पृ० २४

६१ वही, पृ०-३४

६२ जी० टुच्चो, तिब्बेतन पेन्टेड स्क्रोल्स, भाग १, पृ० १०५

वई-ग्नस्-रनम्-पर-अवयेद्-प-ग्रजेद्-व्यन्-गी-यी-गे-म्खस्-ग्रुप्-चोस-रजे-ल-ग्सन्-प की रचना की। म्खस् ग्रुप(१३८५-१४३८)चोङ्-ख-प के सभी शिष्यों में अधिक विद्वान थे। ये विमल-प्रभा के स्पष्ट व्याख्याता थे। इन्होंने एक विशालग्रन्थ-रग्यल्-त्म्स्-चद-क्यी-रग्यल्-पो-वेक्म्-ल्दन्-अद्स्-दुस्-क्यी-अखोर्-ग्रो-मचोग्-गी-दन्-पाई-स्नस्-रग्यस्- क्यी-रत्स्-वई-रग्यल्-लस्-पयुन्-ब-ब्सदुस-पई-रग्युद्-क्यी-अग्रेल्-चेन्-र्तस-ग्रई-रग्यन्-क्यी - रजेस्-सु-अजुग्-स्तोन्-प्रग-बयु-गनीस्-प-द्री-म-मेद-पयी-ग्रोद्-क्यी-रग्य्-सेर्-बसद्-ये - को-न्-निद्-स्नम्-बर -व्येद्-प, की रचना चार भागों में की। इस ग्रन्थ में इन्होंने कालचक्र सम्बन्धी शताब्दियों के अनुश्रुति एवं ऐतिहासिक तथ्यों का पुनर्निर्माण कर बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का पुनर्निरूपण किया।[६३]

पदम्-द्कर-पो (१५२६—१५९२) ने म्चोग-गी-दन्-पोई-सन्स्-रग्यस्-रन्म्-पर-वयी व-गसन्-त्म्स-चद्-बसद्-पाई-मद्सोद की रचना कर सिर्फ कालचक्र की ऐतिहासिकता एवं इस यान के भारत एवं तिब्बत में प्रचार के प्रसंग में ही नहीं लिखकर इन्होंने आदि बुद्ध के सिद्धान्त की व्याख्या भी की है। अन्त में इन्होंने अभिषेक तथा मन्त्रों के विषय में भी उल्लेख किया है।[६४]

तारानाथ (र्ग्यल्-रवङ्-पकुन्-द्गा-स्ञिङ्-पो) ने दपल्-दुस्-क्यी-अखोर-लोई-चोस्-बस्खोर्-ग्यी-वचुन्-क्रुन्स्-नेर-म्को-ब की रचना कर कालचक्र के संक्षिप्त इतिहास को बतलाते हुए इसकी दैविक उत्पत्ति एवं भूतल पर प्रगति के प्रसंग में भी उल्लेख किया है। इन्होंने कालचक्रयान के अनुसार तन्त्र-मन्त्रों के प्रसंग में—जब-लम-र्दो-र्जे्-र्नल-अ्वयोर-ग्यी-अकरीद्-यीद्-म्त्स्न्-दन्-ल्दन् में व्याख्या की है तथा इससे भी अधिकरदो-रजे-र्नल-अ्वयोर-ग्यी-ऋीद्-यीग्-म्त्सन्-व-दन्-ल्दन्-ग्यी-लबन्-त्-अ्वस-ओद-र्ग्य्-अ्वर-ब में इस प्रसंग में लिखा है जो प्रथम ग्रन्थ की टीका है। इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक एवं धर्म सम्बन्धी दो स्कन्ध हैं। धर्म सम्बन्धी स्कन्ध में इन्होंने वज्रयान के सिद्धान्त एवं बौद्धधर्म के महान सिद्धान्तों की चर्चा की है।[६५]

बक्र-शिस्-ल्हुन्-पो बिहार के नायक पण्-छेन (महापंडित) छोस्-क्यी-रग्यल्-मत्स्न् (१५७०-१६६२)[६६] ने कालचक्र के विमलप्रभाटीका की व्याख्याद्रीम-मेद-ओद्-क्यी-र्ग्य्-सेर-ब्सद्-प-दे-को-न-नीद-स्नोन्-वर्-वयेद्-पाई-स्ङ्पो-ब्स्दुस्-प-यीद-ब्जीन्-नोर-बु नामक ग्रन्थ में की है। इसके गूढ़ तथ्यों की व्याख्या के पूर्व इन्होंने इसकी उत्पत्ति एवं प्रगति के प्रसंग में वर्णन किया है।

तीसरे ताशी लामा द्पल्-लद्न्-ये-शेस (१७३१-१७८०)[६७] ने शंभल-लम-यीग नामक ग्रन्थ में 'शंभल की यात्रा, ऋषियों की भूमि तथा आर्य देश का इतिहास' के प्रसंग में उल्लेख करते हुये कालचक्रतन्त्र के विविध तन्त्र-मन्त्रों के साथ इसकी साधना आदि के विषय में भी लिखा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ— दां-पोवी-सङ्स-रग्यस्-द्पल्-दुस-क्यी-ऽखोर-लोओी-लो-रग्युस-दां-मि-गि-रनाम्-ग्रांस-बसुग्स्-सो", "कालचक्र की उत्पत्ति एवं उत्पन्न क्रमों की संक्षिप्त व्याख्या"

---

६३ वही, पृ० १२०

६४ वही, पृ० १२७

६५ वही, पृ० १२९

६६ राहुल सांकृत्यायन, तिब्बत में बौद्धधर्म, पृ० ४१

६७ प्रो० अनिरुद्ध झा, शंभल-लम-यीग, भूमिका, पृ० ४-१५

यद्यपि स्वतन्त्र ग्रन्थ है तथापि इस पर द्पल्-लद्न्-ये-शेस के ग्रन्थ शंभल-लम-यीग का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि ग्रन्थकार क्लोन-रदोल-लामा ने स्वयं प्रस्तुत ग्रन्थ में इसे ब्लो-वजन-द्पल्-लद्न्-ये-शेस के ग्रन्थ का अनुवाद कहा है, किन्तु ऐसी बात मूलतः नहीं रहकर केवल आंशिक रूप में शंभल के वर्णन में ही पायी जाती है। अतएव इसे अनुवाद मानना भ्रामक होगा। सम्भवतः क्लोन-र्दोल-ब्लामा ने इस ग्रन्थ के निर्माण के पूर्व इसे अवलोकन कर इसके कुछ अंशों को उद्धृत करने के कारण ही ऐसा कहा है।

ग्रन्थकार

क्लोन-र्दोल-ब्लामा (लोन्-दो-लामा) का जन्म १७२९ ई० में हुआ। इन्होंने अठारहवीं शताब्दी में अपने विशालकाय ग्रन्थ गसुन्-अबुम (gSum-Abum)[६८] में सभी विषयों का संस्करण तिब्बतीय ज्ञानकोष के रूप में किया है। र्ग्यल-र्ब्स का संक्षेप कर पाँचवें दलाई लामा रग्यल-ब्लो-ब्सङ्-र्ग्य-मछो (१६१७-१६८२ ई०) की वंशावली में दलाईलामा के अवतार ग्रहण करने के प्रसंग में व्याख्या कर तिब्बत के इतिहास का ढांचा प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में इन्होंने मंगोलिया में बौद्धधर्म के प्रचार के प्रसंग में उल्लेख किया है तथापि यह तिब्बतीय इतिहास लेखन का एक विशिष्ट नमूना है।

इसके अतिरिक्त इन्होंने छठे दलाईलामा छङ्स्-द्ब्यङ्-स्-र्ग्य्-मछो (१६८३-१७०५) की जीवनी के अतिरिक्त तन्त्र, दर्शन एवं अन्य विषयों के ऊपर कुल २८ ग्रन्थों की रचना की है जो तिब्बतीय ज्ञान-भंडार के रूप में इस समय भी उपलब्ध है।

ग्रन्थ परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ को 'कालचक्र' का "उपोद्‌घात" कह सकते हैं। यह चार स्कन्धों में विभक्त है। इसके प्रथम स्कन्ध में शंभल देश के प्राकृतिक बनावट, दूसरे स्कन्ध में शंभल देश का वर्णन, तीसरे में भगवान बुद्ध द्वारा धान्यकटक में 'कालचक्र' के प्रवचन के प्रसंग, तथा चौथे स्कन्ध में कलियुग की अवधि चक्रवर्त्ती चण्ड द्वारा तुरुकों का नाश तथा पुनः बुद्ध शासन के प्रचार एवं कालचक्रतन्त्र की उत्पत्ति एवं उत्पन्न क्रमों के प्रसंग का उल्लेख है।

प्राक्कथन को अधिक विस्तार नहीं कर अब मैं बिहार रिसर्च सोसाइटी के अवैतनिक मंत्री श्री सुशील कुमार झा, एम० ए०, बी० एल०, के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित करने की अनुमति दी है। मैं श्री अतंसा तुल्कु, मगध विश्वविद्यालय के तिब्बतीय विभाग के व्याख्याता एवं बिहार रिसर्च सोसाइटी के शोध सदस्य श्री गोपी रमण चौधरी का अनुगृहीत हूँ जिनके सहयोग से मैं इस ग्रंथ को प्रस्तुत कर रहा हूँ। अन्त में मैं परम आदरणीय डा० सीताराम राय, एम० ए०, पी० एच० डी०, के प्रति अपना ऋण प्रकट करता हूँ जिन्होंने इसे पढ़कर कतिपय भूल सुधारने का कष्ट किया है। मैं भाषा की त्रुटि एवं अन्य दोषों के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। आशा है विद्वद्‌गण इन त्रुटियों पर ध्यान नहीं देकर केवल विषयवस्तु को ही ग्रहण करेंगे।

दिनांक १५-२-१९६८ ई०

राजेश्वर झा

---

६८ जो-ड्रुच्ची, तिब्बेतन पेन्टेड स्क्रोल्स।

मूल ग्रन्थ का रूपान्तर

"दां- पोओी - सङ्रग्यस्- द्पल्- दुस्- क्यी- ऽखोर - लोओी - लो- रग्युस्- दां- मिं- गिं- रनाम्- ग्रांस्- बसुगस- सो", "कालचक्र तन्त्र की उत्पत्ति एवं उत्पन्न क्रमों की संक्षिप्त व्याख्या"।

अन्य सूत्र एवं तन्त्र से भिन्न श्रीकालचक्र के कुछ अंशों को उद्धृत करता हूँ। इसमें चार स्कन्ध हैं—

(१) कालचक्र तन्त्र के सम्पर्क के पर्वत, द्वीप, सागर इत्यादि;

(२) शम्भल का वर्णन;

(३) राजधानी कलाप, ४२ नृपों की वंशावली एवं चक्रवर्ती चण्ड का नया शासन प्रबन्ध; तथा

(४) कलियुग में बुद्ध-शासन की अवधि।

१

वायुमंडल[1] की मोटाई ५० हजार योजन और चौड़ाई ४ लाख योजन है। इसके अन्दर वज्राग्नि, अन्धकार एवं महा अन्धकार सन्निहित हैं। इसके

---

१ पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में शतपथ ब्राह्मण में बताई गई है कि जल के ऊपर वायु भ्रमण करता है। जब किसी अवसर में जल के स्तर को ऊँचा उठाकर वायु उसके भीतर प्रविष्ट हो जाता है, तब बुद्बुद बन जाया करता है। वायु जब निकल जाता है तब बुद्बुद समाप्त हो जाता है और जल में जल मिल जाता है। किन्तु जब कभी ऐसा अवसर आता है कि जल का स्तर घनीभूत हो जाय और वह वायु को निकलने न दे, तब वायु की रुक्षता और जल की स्निग्धता इन दोनों विरुद्ध धर्मों का परस्पर संघर्ष होने से दोनो तत्व तिरोहित हो जाते हैं और एक तीसरी वस्तु बन जाती है जिसको फेन कहते हैं। यह फेन रूप दूसरी अवस्था हुई। इस पर सूर्य-रश्मियों का प्रतपन होता रहता है और वायु में संक्रान्त चिकना तत्व भी उसमें प्रविष्ट होता है जिसे पंक कहते हैं। इस पर पुनः वायु और सूर्य-किरणों के संघर्ष क्रम से सिकता बन जाती है। यही सिकता सूर्य-किरणों की प्रखरता का अधिक प्रवेश होने पर कठोर मृत्तिका बनती है और वही पीछे पत्थर के रूप में परिणत हो जाती है। पत्थर से लोहा बनता है और बाद में भिन्न-भिन्न धातु बनने के बाद अन्त में सोना बन जाता है। धातु सूर्य-किरणों के अधिक प्रवेश से बनता है। अतः इसे "तैजस" कहते हैं। सोना को अग्नि का रेत (वीर्य) कहते हैं।

—शतपथ ब्राह्मण, कान्ड ६, अध्याय १

ऊपर की अग्नि की मोटाई ५० हजार योजन और चौड़ाई तीन लाख योजन हैं। इसके भीतर घुएँ से ओतप्रोत अग्नि का कुण्ड तथा ऊपर जल-मण्डल है जिसकी मोटाई ५० हजार योजन और चौड़ाई दो लाख योजन हैं। इसके अन्दर तरल रेतीली भूमि एवं जल का कुण्ड है तथा ऊपर भू-मण्डल हैं। भू-मण्डल की मोटाई ५० हजार योजन और चौड़ाई दो लाख योजन हैं। इसके भीतर पत्थरों से पूर्ण जल कुण्ड और ऊपर प्रकाशमान नाग लोक तथा असुर लोक है। पहले के चार मण्डल बड़े हैं तथा वाद के सभी मण्डल उनसे ५० हजार योजन कम हैं। उन मण्डलों के मध्य में. एक लाख योजन का पर्वतराज है। पर्वतराज का मस्तक २५ हजार योजन; मुँह ५० हजार योजन; तथा शिखर २५ हजार योजन का है। इन चारों मण्डलों की मोटाई २ लाख योजन है तथा अन्य मण्डलों को मिलाकर उनकी ऊँचाई ४ लाख योजन है। पर्वतराज के मस्तक, मुँह एवं शिखर का माप आकाश की दूरी से किया गया है। पर्वत-राज की ऊँचाई ४ लाख योजन होने के कारण धरातल के मनुष्यों की लम्बाई चार हाथों की होती है।

पर्वतराज के ऊपर का भाग पूरब से पश्चिम ५० हजार योजन तथा नीचे का भाग १६ हजार योजन का हैं। अभिधर्मकोश के अनुसार यह सप्तद्वीप,[२] सप्त सिन्धु एवं सप्त स्वर्णपर्वतों से परिवेष्टित है। सप्तद्वीपों में—(१) चन्द्रद्वीप, (२) प्रकाश द्वीप, (३) श्री कुशद्वीप, (४ किन्नर द्वीप, (५) क्रौंच द्वीप, (६) चण्ड-द्वीप तथा (७) महाजम्बूद्वीप हैं। सप्त सिंधुओं में —(१) मधु-सागर, (२) घृत-सागर, (३) दधि-सागर, (४) क्षीर-सागर, (५) नीर-सागर, (६) सोमरस-सागर तथा (७) लवण-सागर हैं। सप्तपर्वतों में–(१) नील पर्वत, (२) मन्दर पर्वत, (३) निष्ट पर्वत, (४) रत्न पर्वत, (५) द्रोण पर्वत, (६) हिमालय पर्वत तथा (७) कृष्ण मणि पर्वत हैं।

---

२ पद्माकारा समुत्पन्ना पृथिवी सघनद्रुमा।
तदस्य लोक-पद्मस्य विस्तरेण प्रकाशितम् ॥४५॥
महाद्वीपास्तु विख्याताश्चत्वारः पत्रसंस्थिताः।
ततः कर्णिकसंस्थानो मेरुर्नाम महाबलः ॥४६॥

—वायुपुराण, अध्याय ३४

पृथ्वी के विषय में प्राचीन मत था कि मेरु की चारों दिशाओं में; चार द्वीप हैं परन्तु पुराणों के नवीन संस्करण में सात द्वीपों का सिद्धान्त मान लिया गया। जम्बूद्वीप इस कल्पना के द्वारा मध्य में है और यह सात द्वीपों के द्वारा वेष्टित है तथा ये द्वीप आपस में एक-एक समुद्र के द्वारा पृथक् किये गये हैं। प्रत्येक द्वीप में सात पर्वत भी होते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) जम्बूद्वीप—क्षार या लवणोदधि द्वारा वेष्टित, (२) प्लक्ष (गोमेदक) द्वीप—इक्षुरस समुद्र द्वारा वेष्टित, (३) शाल्मलि द्वीप—सुरा समुद्र द्वारा वेष्टित, (४) कुशद्वीप—

हिमालय पर्वत और पर्वतराज के ऊपर का भाग अत्यन्त विस्तृत होने के कारण इनके शिखर यद्यपि परस्पर नहीं मिलते हैं तथापि वे बराबर हैं। ये छः पर्वत, छः द्वीप एवं छः समुद्र पर्वतराज के प्रश्रय में हैं। हिमालय पर्वत से कृष्णमणि पर्वत तक के समुद्र नमकीन हैं। इस समुद्र के समक्ष महाजम्बूद्वीप पर्वतराज को घेरे हुये है। इसके चारो दिशाओं को तीन-तीन भागों में विभक्त करने पर इसके बारह भाग हैं। शंभल के कुल २५ नृपों में अंतिम नृप चक्रवर्ती चण्ड को छोड़कर अन्य कोई नृप जम्बू-द्वीप को अपने अधीन नहीं कर सका। जम्बूद्वीप चारों तरफ से परिवेष्ठित है। इसका पूर्वी भाग अर्द्ध चन्द्राकार है। वह वायु लोक है। दक्षिण त्रिकोण है। पश्चिम चौकोर है। उत्तर गोल है। क्रमशः ये अग्नि-लोक, भूलोक तथा जल लोक हैं। महाजम्बूद्वीप के दक्षिणी हिस्से के तीन भागों में मध्य के भाग को छोटा जम्बूद्वीप कहते हैं। वहाँ के लोग महाकालचक्र की सिद्धि मात्र एक ही जन्म में प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ २४ तीर्थ स्थान तथा पराक्रमी पुरुषों एवं डाकिनियों का आवास हैं।

घृत समुद्र द्वारा वेष्टित, (५) क्रौञ्च द्वीप—दधि समुद्र द्वारा वेष्टित, (६) शाकद्वीप—क्षीर समुद्र द्वारा वेष्टित, तथा (७) पुष्करद्वीप—स्वादु जल समुद्र द्वारा वेष्टित।

द्वीपों के क्रम एवं नामकरण में पुराणों में पारस्परिक मतभेद है तथा इन द्वीपों की वर्तमान भौगोलिक स्थितियों का पता लगाना नितान्त दुसाध्य है। पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार कुशद्वीप मिश्र से बाहर अफ्रिका के पूर्वोत्तर भाग में (पुराण विमर्श, पृ० ३२४) तथा शाकद्वीप ईरान के पूर्वी भाग में था (वहीं पृ० ३२६)।

जम्बूद्वीप आरम्भकाल में भारतवर्ष का ही सूचक देश था, किन्तु शकों तथा कुषाणों के आगमन से भारतीयों की भौगोलिक दृष्टि विशेष रूप से विस्फारित हुई और उस युग तक अनेकों अज्ञात देश भी भारतीयों की ज्ञान सीमा के भीतर प्रवेश किये। ऐसे ही युग में जम्बूद्वीप के नव वर्षों की कल्पना की गयी जो मार्कण्डेय पुराण के अनुसार इस तरह हैं—(१) इन्द्रद्वीप, (२) कसेरु, (३) ताम्रपर्ण, (४) गभस्तिमान्, (५) नागद्वीप, (६) सौम्य, (७) गन्धर्व, (८) वारुण, तथा (९) स्वयं भारत ही (मार्कण्डे पुराण, ५७.५) जो बाद में कुमारी द्वीप के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ।

ये भारत से पूर्व की ओर फैलनेवाले द्वीप समूहों के अवयव हैं जो कालिदास के युग में "द्वीपान्तर" के नाम से प्रख्यात थे। पं० बलदेव उपाध्याय ने इन द्वीपों में से अधिकांश की पहचान इस प्रकार की है—

(१) इन्द्रद्वीप—इन्द्रद्युम्न—अंडमन टापू।
(२) नागद्वीप—निकोबार।
(३) ताम्रपर्ण—लंका।
(४) वारुण द्वीप—बोरनियो।
(५) कसेरुमान—मलयद्वीप।
(६) गभस्तिमान—×
(७) सौम्य— ×
(८) गन्धर्वद्वीप— ×

जम्बूद्वीप के मध्य भाग में बोधगया है। यहाँ समयानुसार १०२२ बुद्ध सम्यक् सम्बुद्ध को प्राप्त करेगा। इसके पूरब की ओर पाँच शिखरों से युक्त पर्वत पर आर्य मञ्जुश्री का निवास-स्थान है। इसके दक्षिण के पोतल पर्वत पर आर्य अवलोकितेश्वर का स्थान है। इसके पश्चिम में ऽयोन डाकिनी और मुनियों के निवास स्थान हैं। तथा उत्तर में शंभल नाम का विशिष्ट देश है।

छोटा जम्बूद्वीप के दक्षिण की ओर क्रमशः (१) आर्य देश, (२) तिब्बत, (३) कांश देश, (४) चोन, (५) महाचोन तथा (६) शंभल या हिमालय देश हैं। इसके बाद के दो हिस्सों में मरुभूमि है।

२

शंभल का वर्णान

हिमालय देश के दो भाग हैं। पश्चिम का भाग शंभल कहलाता है। यह गोलाकार एवं कमल के समान जान पड़ता है। यह तीन भागों में विभक्त है। मध्य का भाग नाभी [३] तथा बाँकी दोनों भाग पंखुरी के समान प्रतीत होते हैं। नाभी का व्यास एक हजार योजन तथा प्रत्येक पंखुरी का व्यास

चन्द्रद्वीप, प्रकाश द्वीप, किन्नर द्वीप एवं चण्ड द्वीप के नामों में विभिन्नता जान पड़ती है। सम्भवतः ये नाम इन्हीं नामों के पर्यायवाची शब्द हों।

मेरु पर्वत पुराण परम्परा के अनुसार इलावृत्त वर्ष के मध्य में स्थित हैं जो जम्बूद्वीप का केन्द्र माना जाता है। इलावृत्त की चारों ओर पर्वत मेरु को आलम्बन देनेवाले खम्भों के समान फैले हुए हैं—पूरब दिशा में है मन्दर पर्वत, दक्षिण में है गन्धमादन, पश्चिम में है विपुल पर्वत तथा उत्तर में है सुपार्श्व। मेरु को चारों ओर से घेरनेवाले अन्य पर्वतों का भी उल्लेख मिलता है। मेरु के उत्तर में है नील पर्वत, उसके उत्तर में है श्वेत पर्वत जिसके उत्तर में है शृङ्गि पर्वत। पूरब ओर हैं जठर तथा देवकूट। दक्षिण में है निषध पर्वत, जिसके दक्षिण में है हेमकूट और इसके दक्षिण में है हिमवान (हिमालय)। पश्चिम ओर हैं माल्यवान तथा गन्धमादन पर्वत।

—पुराण विमर्श, पृ० ३१८

निष्ट पर्वत, रत्न पर्वत, द्रोण पर्वत एवं कृष्णमणि पर्वत के नामों में भी विभिन्नता जान पड़ती है।

३ 'अव्यक्तात् पृथिवीपद्मं मेरुपर्वत कर्णिकम्।'

—वायु० ३४।३७

वाक्य में समग्र पृथ्वी को कमल का रूप स्वीकार किया गया है जिसकी कर्णिका में मेरु पर्वत की स्थिति मानी गयी है। मत्स्यपुराण में "नाभिबन्धन संभूतो ब्रह्मणोऽव्यक्त जन्मनः" (मत्स्य ११२।१४) में मेरु अव्यक्त जन्मा ब्रह्मा का नाभिबन्धच माना गया है। प्रतीत होता है कि यह कल्पना पुराण से ही ली गयी है।

एक हजार योजन का है। नाभी एवं दोनों पंखुरियाँ हिमालय पर्वत-मालाओं से घिरे हुए हैं। पहाड़ों के शिखरों पर हिम, इसके नीचे काला पत्थर, इसके नीचे पत्थर, इसके नीचे सुगन्धित फूल, वृक्ष एवं जड़ी-बूटियों से परिपूर्ण समतल मैदान है।

मध्य भाग में प्राकृतिक झील, सरोवर, तरह-तरह के वृक्ष, फूल, फल आदि पाये जाते हैं। यहाँ का वातावरण ही ऐसा है कि यहाँ के लोग जो चाहते हैं उन्हें वह मिल जाता है। वे अपने जीवन शान्ति पूर्वक व्यतीत करते हैं। पंखुरियों से नाभी (मध्य) का हिस्सा कुछ ऊँचा है। यहाँ विभिन्न रत्नों से निर्मित राजमहल कलाप है जो १२ योजन का है। राजमहल[४] के बीच में मरकत, चन्द्रकान्त मणि, हीरा आदि विविध प्रकार के रत्नों से निर्मित राजभवन है जो चन्द्रमा की आभा के समान प्रकाशित होते हैं। राजभवन की दिवारों में भिन्न-भिन्न प्रकार के

४ देवी भागवत के द्वादश स्कन्ध, ब्रह्माण्ड पुराण के ललितोपाख्यान में नवरत्न से रचित नौ खण्डों का एक द्वीप का विस्तृत वर्णन है जिसे मणिद्वीप कहते हैं। वह शाक्तों का विवरण है। इस द्वीप के मध्य में कदम्ब वन है। उसमे चिन्तामणि गृह अथवा मन्दिर है। उस मन्दिर में पञ्चमय मञ्च है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर ये मञ्च के चार पाद हैं। मञ्च के ऊपर फलक के रूप में सदाशिव हैं, यही मुख्य आसन हैं। इस आसन पर अनादि मिथुन पर चैतन्यमय परमेश्वर और परमेश्वरी अभिन्नरूप में विराजमान हैं। ये साधकों के निकट पुरुष और परमा प्रकृति के रूप मे परिचित हैं (महामहो० गोपीनाथ कविराज, तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १७६)।

मणिद्वीप के अतिरिक्त तान्त्रिक वाङ्मय में श्रीनगर की भी चर्चा आई है। इसका प्राचीन नाम अतस्तद्वीप है। प्रसिद्धि है कि मेरु में चार शिखर हैं—इसके तीन शिखरों पर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की तीन पुरियाँ हैं, चतुर्थ शिखर पर महामाया की पुरी विराजमान है। इसका नाम श्रीपुर या श्रीनगर है। यह चार सौ योजन लम्बी और चार सौ योजन चौड़ी है। यह सात प्राकारों से परिवेष्ठित है। इसके चार प्रवेश द्वार हैं। प्रवेश स्थान में शाला, गोपुर आदि हैं। बाहर का प्राकार लोहे का है और भीतर का सोने का। बीच के छः प्राकार क्रमशः पीतल, ताँबा, शीशा, दस्ता, पंचलोक और बज्र से निर्मित है। प्रत्येक प्राकार मानो एक-एक दूर्ग है। सर्वत्र ही रक्षक और दुर्गपालों की व्यवस्था है। लोह दुर्ग के रक्षक महाकालगण और उनकी शक्तियाँ है। ये भगवती की कालचक्र में उपासना करते हैं। कालचक्र त्रिकोण, पञ्चकोण, षोडशदल और अष्टदल कमल हें। अन्यान्य छः दुर्गों के रक्षक शक्तिसहित छः ऋतुएँ हैं। इन सब चक्रों में तीस शक्तियाँ कार्य करती हैं—मधुशुक्ला एक से पन्द्रह तक और मधुकृष्णा एक से पन्द्रह तक। यहाँ बहुत शालायें हैं जिनमें गन्धर्व अप्सरा, नाग, यक्ष और रुद्रगण वास करते हैं। ये शालाय विभिन्न उपादानों से निर्मित हैं। स्वर्ण और रजत शालाओं के बीच कदम्बवन वाटिका है, जहाँ मन्त्रिणी वास करती है। ये ग्यारह शालायें महामूल्य-रत्नमय हैं जो पुष्पराज, पद्मराज, गोमेद, वज्र, वैदूर्य, इन्द्रनील, मुक्ता आदि से रचित हैं।

चमकीले शीशे इस तरह लगे हैं कि यहाँ दिन और रात में अन्तर ही नहीं जान पड़ता है। जम्बूद्वीप के स्वर्ण से बने राजसिंहासन में विभिन्न प्रकार की मणियाँ जड़ी हुयी हैं। इन रत्नों में विशेषतः एक इस तरह के रत्न का शीशा लगा हुआ है जिससे ५० योजन के दूर तक के भी छोटे-छोटे कीड़े तक दिखाई पड़ते हैं। राजमहल की खिड़कियों में इस तरह के शीशे लगे हुए हैं कि उनमें चाँद, सूरज, तारे तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रह एवं उपग्रहों के जीव-जन्तु भी सामने स्पष्ट नजर आते हैं। राजसिंहासन की चारों ओर चन्दन की लकड़ी का घिराव है जिसकी सुगन्धि एक योजन से भी अधिक की दूरी तक फैलती है। वह धन-धान्य से पूर्ण है। कहा जा सकता है कि वहाँ की एक चीज की कीमत एक बड़ा जहाज पर सोना भर कर देने से भी नहीं चुकायी जा सकती है। रिग्स-ल्दन (महाराजा) बहुत सुन्दर हैं। उनके दीप्तिमान मुखमण्डल की ओर किसी की नजर स्थिर नहीं रह सकती है। उनके पास रानी, मंत्रीमण्डल, सेनाध्यक्ष, हाथी, पंखयुक्त हाथी, अश्वरत्न तथा असंख्य रथ हैं। उन्हें प्राकृतिक, प्रजा द्वारा अर्पित तथा देवी एवं डाकिनी द्वारा अनुगृहीत असंख्य धन हैं। रानियों की संख्या अधिक होने के कारण बच्चों की उत्पत्ति भी अत्यधिक है। परन्तु इन बच्चों में से अधिकांश एक सप्ताह के अनन्तर में ही मनुष्य-काय छोड़ कर रत्न के रूप में परिणत हो जाते हैं, किन्तु जो बच जाते हैं वे अत्यन्त वीर्यवान नृप होते हैं। राजा एवं ६६ राजकुमारियों की उत्पत्ति के अवसर पर सुमनों की वर्षा होती है तथा जन्म के पूर्व उनके घर पर एक आश्चर्य जनक फूल उत्पन्न होता है। यहाँ के प्रत्येक राजा या रानी को—(१) पाँच प्रकार की इच्छाएँ, (२) धन, (३), धर्म एवं (४) मोक्ष ये चार ब्रह्मकोष स्वतः प्राप्त हैं। यहाँ के राजा-रानी रोग, शोक एवं जराक्रान्त नहीं होते हैं। उन्हें इच्छानुसार फलों की प्राप्ति होती हैं। वे अपने अधिकांश समय साधना में ही व्यतीत करते हैं।

प्रत्येक वर्ष चित्रा नक्षत्र की पूर्णिमा के दिन राजा अपने प्रजा-वर्ग को श्रीकालचक्र का अभिषेक कराते हैं। उस अवसर पर प्रजावर्ग गुरुदक्षिणा में अनेकों कन्यायें राजा को वज्रानी के लिये देता है जो राजमहल के दक्षिण की ओर निर्मित भवनों में देवदासी के रूप में रखी जाती हैं। राजमहल के दक्षिण की ओर मलय नाम का एक बहुत बड़ा उद्यान है। उस उद्यान के

मौक्तिक माला के चक्र में महारुद्र निवास करते हैं। वे भी सर्वदा भगवती के ध्यान में लीन रहते हैं। उनके चारों ओर रुद्रगण एवं रुद्राणीगण घेर कर स्थित हैं (त्रिपुरा रहस्य माहात्म्य खण्ड, अध्याय ७९)।

सम्भवतः इन्हीं विवरणों के आधार पर शम्भल एवं कलाप का इस तरह का वर्णन किया गया है।

मध्य में पाँच प्रकार के रत्नों से बना हुआ श्रीकालचक्र का मंदिर है। यह मंदिर र्‌ग्यल्‌-पो-सल्‌-ब्‌-बसङ्‌ (महाराज सुचन्द्र) ने बनवाया था। इस मंदिर के अतिरिक्त यहाँ अन्य राजाओं के बनवाये हुये भी अनेक मंदिर हैं। इस उद्यान के पूरब में १२ योजन का मानसरोवर तथा पश्चिम में इतने हीं योजन का श्वेत पद्म का अर्धचन्द्राकार सरोवर है। इन सरोवरों में नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित नावों पर देवता, मनुष्य, नाग आदि जल क्रीड़ा करते हैं। शम्भल की आठो पंखुड़ियों के प्रत्येक पंखुड़ी पर १२ करोड़ नगर हैं। प्रत्येक करोड़ नगरों पर एक राजा है। कुल ९६ करोड़ नगर तथा कुल ९६ राजा हैं। प्रत्येक राजा ५००० वर्षों तक बुद्धशासन एवं कालचक्र का पालन करता रहेगा। इन राजाओं में से अधिकांश अष्टसिद्धियों ५ में से किसी न किसी सिद्धि को प्राप्त किये हुये हैं। इन राज्यों के प्रत्येक राज्य में मन-शक्ति नाम की एक छड़ी है। यह छड़ी जिस व्यक्ति के हाथ में जाती है वह आकाश मार्ग में उड़ जाता है। राज-दूत भेजने में इस छड़ी का उपयोग किया जाता है। यहाँ के प्रत्येक ऋषि को मंत्र-शक्ति से वसीभूत होकर कोई न कोई देवता अथवा नाग दास के रूप में रहता है। यहाँ का प्रत्येक भवन आर्य देश के भवनों के समान दो मंजिला एवं आनन्ददायक, निवासी स्वस्थ एवं स्वरूपवान् हैं तथा उन्हें खाने-पीने के लिये पौष्टिक पदार्थ उपलब्ध हैं। यहाँ का कानून सहज है तथा सभी अनुशासन का पालन करते हैं। लोग हिंसा नहीं करते हैं तथा यहाँ दुर्भिक्ष एवं संक्रामक बीमारियाँ नहीं होती हैं। यहाँ के निवासी स्वभावतः सच्चरित्र, तेजस्वी एवं धार्मिक होते हैं। वे साधारणतः इसी जीवन मे गुह्य समाज, शंवर, हेवज्र, श्रीकालचक्र आदि अनुत्तर तन्त्रों के द्वारा बुद्धत्त्व प्राप्त करते हैं। अभिसमयसूत्रों के अनुसार समाधि धारण करने वाले भी अनेकों व्यक्ति हैं। यहाँ का निम्न से भी निम्न प्राणी मरने पर नरक को प्राप्त नहीं करता है।

यहाँ के राजाओं की वेश-भूषा चक्रवर्ती राजाओं के समान है। पुरुष शिर पर पगड़ी बाँधते हैं तथा लाल और उजले कपड़े पहनते हैं। स्त्री उजले एवं नीले कपड़ों में मणि का चित्र बनाकर पहनती हैं। अत्यन्त निर्धन व्यक्ति के

---

५ सिद्धियाँ आठ हैं—(१) अणिमा (परमाणु के समान छोटा होना), (२) लघिमा (हल्का होना), (३) महिमा (बड़ा होना), (४) प्राप्ति (चन्द्रमा तक को उँगली के अग्रभाग से पृथ्वी पर बैठे हुये ही स्पर्श करना), (५) प्राकाम्य (इच्छा अनुसार काम करना जैसे जल में गोता लगाने के समान पृथ्वी के भीतर प्रवेश करना), (६) वशित्व (भूत और भूत-निमित्त पदार्थों पर विजय और शासन प्राप्त करना), (७) ईशित्व (भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, नाश और रचना करने में समर्थ होना) और (८) कामवासायित्व (अपनी इच्छानुसार पंचभूतों से काम लेना)। इसीका दूसरा नाम है सत्य-संकल्प होना अर्थात् जो संकल्प करे उसे सत्य करके दिखा देना।

पास भी १०० रत्न कोष हैं। यहाँ के लोग संघ एवं मंदिरों में बहुत धन देते हैं। भिक्षु आवश्यक सामानों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रखते हैं। वे खुले पैर चलते हैं तथा विनय के नियमों का पालन करते हैं। दुनियाँ के समग्र महायान ग्रन्थ एवं इनकी टीकायें यहीं हैं। यहाँ के राजाओं ने अपनी ऋद्धियों के द्वारा इनकी प्राप्ति की है। विशेषतः बचों-ख-पा संप्रदाय के लिखे हुये ग्रन्थ यहाँ से भी अधिक वहीं उपलब्ध हैं।

३

इस स्कन्ध में दो परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में भगवान बुद्ध द्वारा बोधगया में श्रीकालचक्र के मूल तन्त्र के प्रवर्तन के प्रसंग में तथा दूसरे परिच्छेद में इसके निर्माता शाक्यवंश के ४२ राजाओं का वर्णन है।

आर्य देश के पूर्वी भाग के बंगाल के दक्षिण के समुद्र में जो चीन के समुद्र से मिलता है अस्तुकय नामक एक द्वीप है। इस द्वीप के समक्ष धान्यकटक नामक एक महास्तुप है। पूर्वबुद्ध कश्यप के समय में वहाँ बहुत बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा। उसी समय कश्यप ने वहाँ के लोगों की रक्षा के लिये १८ दिनों तक पैदल जाने के रास्ते तक धानों की वर्षा की थी। लोगों ने अपनी इच्छा भर धान लिया तथा जो धान बच गये वे उनकी ऋद्धि से एकत्रित होकर स्तूप के रूप में निर्मित हो गये। वह स्तूप सिमेंट के स्तूप के समान दृढ़ है। इसके बाहर में पहाड़ के समान दो घिराव हैं। बाहर से इसकी परिक्रमा करने में एक दिन लग जाता है। भगवान बुद्ध ने बोधगया में बुद्धत्व प्राप्त करने के दूसरे वर्ष के चित्रा नक्षत्र की पूर्णिमा को वहाँ आकर उस स्तूप के गुम्वज में कालचक्र के मूलतन्त्र का प्रवर्तन किया। ऐसा लिखा गया है। किसी-किसी का मत है कि भगवान बुद्ध ने इसी धान्यकटक के गुम्वज में चित्रा नक्षत्र की पूर्णिमा को श्रीकालचक्र के मूलतन्त्र का प्रवर्तन किया तथा स्वाती के कृष्णपक्ष में महानिर्वाण को प्राप्त किया। शम्मल के राजा सूर्यकिरण, रानी विजय और राजकुमार वज्रपाणि का अवतार महाराजा सुचन्द्र एवं शम्मल के अन्य ९६ राजा, रानी, मंत्री आदि ने ऋद्धि की शक्ति से नागार्जुन कोण्ड के निकट धान्यकटक स्तूप में भगवान बुद्ध से श्री कालचक्र के मूलतन्त्र १२००० श्लोक का उपदेश ग्रहण किया। सुचन्द्र का पुत्र देवेन्द्र, देवेन्द्र का पुत्र तेजस्वी, उनका पुत्र चन्द्रपुत्र, उनका पुत्र देवेन्द्र द्वितीय, उनका पुत्र बहुकाय, उनका पुत्र देवेन्द्र तृतीय—इन नृपतियों को सप्त धर्मराज कहते हैं।

देवेन्द्र तृतीय के २५ वें रिग्स-ल्दन नृप के वंशजों में प्रथम नृप (१) मञ्जुश्री कीर्त्ति थे। मञ्जुश्रीकीर्त्ति का पुत्र (२) श्वेत कमल, उनके बाद (३) भद्र, (४) विजय, (५) भद्र कल्याणमित्र, (६) रक्तहस्त, (७) गुप्त (८) सूर्य कीर्त्ति, (९) अतिभद्र (१०)

समुद्रविजय ,(११) अजीत, (१२) सूर्य, (१३) बहुकाय, (१४) चन्द्रप्रकाश, (१५) अनन्त, (१६) भूपाल, (१७) श्रीपाल, (१८) सिंघ, (१६) सर्वदमन [इस समय इन्हें सिंहासनारूढ़ हुये ५० वर्ष हुये हैं। सप्तम दलाईलामा सकल-बसं-ङ्ग-रग्य-मछो (भद्रसागर[6]) के अवतार आठवें दलाईलामा की आयु इस समय केवल पाँच वर्ष की ही है]। सर्वदमन के बाद (२०) महावली, (२१) गतिशील, (२२) नरसिंघ, (२३) महेश्वर, (२४) अनन्तविजय तथा (२५) चक्रवर्ती चण्ड राजा होंगे। चण्ड के बाद रिग्स-ल्दन् वंश का अन्त हो जायगा।

चक्रवर्ती चण्ड के दो पुत्र होंगे। प्रथम पुत्र का नाम ब्रह्मेश्वर तथा दूसरे का नाम देवपति होगा। ब्रह्मेश्वर शम्भल के राजाओं में नहीं गिना जाता है। ब्रह्मेश्वर का पुत्र कश्यप, कश्यप का मत्स्य, मत्स्य का कच्छप, कच्छप का सुअर, सुअर का सिंघ, सिंघ का वामन, वामन का राम, राम का रमण, तथा रमण का पुत्र कृष्ण हुये। हिन्दू ग्रन्थों के अनुसार विष्णु के (१) मत्स्य, (२) कच्छप,(३) बराह, (४) नरसिंघ, (५) वामन, (६) राम, (७) रमण,(८) कृष्ण, (६) बुद्ध, तथा (१०) कल्कि ये दश अवतार हैं।

दशावतार का ६ वाँ बुद्ध और दशवाँ कल्कि हिन्दू ग्रन्थों में चक्रवर्ती चण्ड माना गया है।

दशवें एवं ग्यारहवें राजाओं में से प्रत्येक ने ४०३ वर्षों तक राज्य किया। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य सभी राजाओं ने १०० वर्ष राज्य करने के उपरान्त अपने उत्तराधिकारियों को राजगद्दी दी। वे लोग दीर्घायु होते हैं। उनलोगों में से किसी किसी की आयु १६० तथा १८० वर्षों की होती है दशवाँ तथा ग्याहरवाँ राजा ब्रह्मेन्द्र एवं देवेन्द्र ८०० वर्ष तक जीवित रहे। कश्यप ४०० वर्ष तक जीवित रहे। यहाँ के मनुष्यों की आयु साधारणतः १०० वर्षों की होती है। आठ महासत्व—(१) मत्स्य, (२) कच्छप, (३) बराह, (४) नरसिंघ, (५) वामन, (६) राम, (७) रमण, तथा (८) कृष्ण हैं। पहले मनुष्यों की आयु ३६० वर्षों की होती थी। वामन के समय से मनुष्य की आयु में ह्रास होता गया। कृष्ण नाम के शम्भल के राजा के राजत्व काल में मनुष्य की आयु १०० वर्ष की हो गयी। कृष्ण की मृत्यु का समय तथा बुद्ध शासन के ५००० वर्ष समाप्त होने का समय मिलता है। बुद्ध-सूत्र-शासन के अन्त होने पर तन्त्र का एक नया शासन प्रारम्भ होगा जो १०३ वर्षों तक रहेगा। कृष्ण के मृत्यु के कुछ ही दिनों के पश्चात् शम्भल में तुरुकों का आगमन होगा किन्तु शम्भल के मध्य भाग में जहाँ राजमहल हैं, वर्फ से ढके रहने के कारण वे वहाँ नहीं पहुँच सकेंगे। चक्रवर्ती चण्ड के नये शासन प्रारम्भ होने

---

६ १७०८—१७५८, एल० ए० वैडेल, बुद्धीज्म आफ तिब्बत, पृ० २३३
७ जाम-दपल-रग्य-मछो, १७५८—१८०५, वही

पर त्रेता, द्वापर और कलियुग का क्रमशः पुनः प्रारम्भ होगा। इनमें से प्रत्येक युग ४५०० वर्षों का होगा। कलियुग का अन्त और धर्मराज कृष्ण की मृत्यु एक ही समय में होगी।

दुनियाँ से बौद्धधर्म का अन्त हो जाने पर भी यह शम्भल देश में कायम रहेगा, क्योंकि यहाँ आर्य देश में चीन के समान दुष्ट राजाओं की उत्पत्ति नहीं होती है। यहाँ के सभी राजा देवता के अवतार हैं। सातों धर्मराज, पचीसों रिग्स्-ल्दन के नृपति तथा चक्रवर्ती चण्ड के दोनों पुत्र, ये सभी देवजात होने के कारण ज्ञानी थे। प्रारम्भ से लेकर मत्स्य तक के राजाओं को शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती थी। किन्तु मत्स्य के बाद के सभी राजा मानव जाति के हुये जिन्हें जन-साधारण की भाँति शिक्षा देना पड़ा। ये सभी राजा शाक्य वंश के थे। रिग्स्-ल्दन का प्रथम तथा अंतिम नृपति को दर्पेण-छेन्-लामा का अवतार माना गया है।

महाराजा अनन्त विजय के पुत्र को चक्रवर्ती चण्ड कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ के सभी राजा अपने जन्म के पश्चात् एक दिव्य चिह्न आकाश मार्ग से ग्रहण करते हैं। चण्ड भी लोहे का एक दिव्य चक्र प्राप्त करेंगे जिसे दिग्विजय का प्रतिरूप माना जायगा तथा वे चक्रवर्ती चण्ड कहे जायेंगे।

४

कलियुग में बुद्ध शासन की अवधि

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण से लेकर ५००० वर्षों तक बुद्ध शासन की अवधि है। धान्यकटक में भगवान बुद्ध द्वारा श्रीकालचक्र का प्रवर्त्तन से लेकर रिग्स-ल्दन के २५ राजाओं के अन्त तक के समय को प्रथम युग माना जाता है। इसके उपरान्त त्रेता, द्वापर और कलियुग क्रमशः बीतता है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार कलियुग के अन्त तक बुद्ध शासन रहेगा। इस प्रकार होने से चक्रवर्ती चण्ड का राजत्वकाल १०००० वर्षों का होगा। चक्रवर्ती चण्ड महाजम्बूद्वीप के बारह क्षेत्रों में शासन करेंगे। इन सभी क्षेत्रों में बुद्ध शासन की अवधि आठ-आठ सौ वर्षों की है जिसका योगफल ९६०० वर्षों का होता है। अतएव यह लगभग १०००० वर्षों का हो जाता है। कुल मिलाकर बुद्ध शासन की अवधि २१६०० वर्षों की है। ये बारह क्षेत्र—पूरब में तीन भाग, दक्षिण में तीन, पच्छिम में तीन तथा उत्तर में तीन भाग हैं। इन सभी क्षेत्रों को महाजम्बूद्वीप कहते हैं। दक्षिण के तीन हिस्सों को छोटा जम्बूद्वीप कहते हैं। प्रत्येक

युग में बुद्ध शासन की अवधि ४५०० वर्षों की है। इस समय राजा सर्वदमन को राज्य करते हुये ५० वर्ष हुए हैं।

चक्रवर्ती चण्ड के शासन के अनन्तर महाजम्बूद्वीप में तुरुक लोगों को अत्यन्त कष्ट देगें। उनकी व्यथा को देखकर उन्हें अपार दुख होगा तथा वे अत्यन्त उग्र होकर सीता नदी के दक्षिण की ओर आर्य देश के मख भाग होकर अपने नौ करोड़ सेना, चार लाख गजवाहिनी, अन्य छः प्रकार की सेनाएँ जिनमें प्रत्येक की संख्या २१८७० है, अपने असंख्य स्वर्णरथ, पंखयुक्त प्रस्तर अश्वारोही एवं पैदल सेनाओं के साथ आवेंगे। जैसे-जैसे ये सेना आगे बढ़ेगी तुरुकों का विनाश होगा तथा तुरुकों के प्रधान को चक्रवर्ती चण्ड मारेगें। सेनापति हनुमान तुरुकों के सेनापति चन्द्रपुत्र को मारेगा। इसी तरह राजा राजा को, सेना सेना को, हाथी हाथी को, तथा घोड़ा घोड़ा को मारेगा। इस प्रकार तुरुकों का समूल नाश होगा। उस सयम मनुष्यों की आयु साधारणतः १०० वर्षों की होगी। अन्न प्रकृतितः उत्पन्न होगा। तुरुकों का आधिपत्य कहीं भी नहीं रहेगा। इस तरह का स्वर्णयुग १०० वर्षों का होगा। जो व्यक्ति चक्रवर्ती चण्ड से शिक्षा ग्रहण करेगा उसे इसी जीवन में श्रीकालचक्र की सिद्धि प्राप्त होगी। चक्रवर्ती चण्ढ अपने कनिष्ट पुत्र देवपति को आर्यदेश, तिब्बत, नेपाल एवं सम्पूर्ण चीन का राज्य तथा ज्येष्ठ पुत्र ब्रह्मेश्वर को शम्भल देश का राज्य देंगे। कुछ दिनों के बाद चक्रवर्ती चण्ड का परिनिर्वाण होगा। इस प्रसंग में अधिक जानकारी के लिये मखस्-ग्रुब-छोस्-क्यि-रग्यल्-पो[८] (आचार्य धर्मराज) की टीका देखें।

आचार्य धर्मराज तथा पणछेन-छेन-ब्लो-बस्ङ-छोस-क्यि-र्ग्यल्-मछ्न्[९] का कहना है कि चक्रवर्ती चण्ढ अपने ५० वर्षों की आयु में आर्यदेश के मख प्रान्त में तुरुकों को नाश करने के लिये शम्भल की सेना लेकर आवेंगे। अन्य लोगों का कहना है कि चक्रवर्ती चण्ढ ६७ वर्ष की आयु में वहाँ आवेंगे। इन दोनों सम्प्रदायों के इस तरह के कथन का कारण भगवान बुद्ध द्वारा मूलतन्त्र प्रवर्त्तन करने के समय में अन्तर का है। मैं प्रथम संप्रदाय के सिद्धान्त को मानता हूँ। तुरुकों की पराजय के प्रसंग में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि चक्रवर्त्ती चण्ढ मख देश होकर महाजम्बूद्वीप में दायें से बायें की दिशा में घुमकर तुरुकों का नाश करेंगे। अन्य व्यक्तियों का

८ म्खस् ग्रुप् (१३८५—१४३८ ई०) चोङ्-ख-प का प्रधान शिष्य था। यह पीछे द्गऽ-ल्दन् का तीसरा संघराज हुआ। इसने अनेक ग्रन्थ लिखा तथा अपने गुरु के कामों को आगे बढ़ाया। राहुल, तिब्बत में बौद्धधर्म, पृ० ३७

९ प्रथम ताशी (पंछेन लामा) लामा (१५६९—१६८२), एल० ए० वैडेल, बुद्धीज्म आफ तिब्बत, पृ० २३६

कथन है कि वे एक ही दिन में दुनियाँ के चारों दिशाओं में तुरुकों का नाश करेंगे। इस तरह का मत पण्छेन का है। एक पृथक मत इस तरह का भी है कि दुनियाँ के बारह भागों के लिये चक्रवर्त्ती चण्ड बारह रूपों में अवतार ग्रहण कर तुरुकों का नाश करेंगे। तुरुकों के विनाश के बाद सभी जगह बुद्ध मंदिर, बुद्ध-संघ आदि की स्थापना कर पुनः बुद्ध शासन सूर्य सदृश् प्रकाशमान् होगा। उसी समय नागार्जुन का प्रस्तर काय (जिसका शिर और धर पृथक-पृथक है) पुनः जुटकर सजीव हो जायेगा। चोङ्-खा-पा भी देवलोक से लौट कर अपने पूर्व शरीर में जो इस समय दग्अ-ल्दन् विश्वविद्यालय में स्वर्ण स्तूप में सुरक्षित है, पुनः प्रवेश कर पुनर्जीवित हो जायेंगे। उस समय लोग एक ही जीवन में सिद्धि प्राप्त कर सकेंगे। धनी एवं निर्धन का तब प्रश्न नहीं रहेगा। सभी समान रूप में रहेंगे। स्वर्ग सदृश सर्वत्र आनन्द ही आनन्द रहेगा। देवता भी इस संसार में जन्म ग्रहण के लिये प्रार्थना करते हैं। अतएव मनुष्य मात्र को प्रार्थना करना चाहिये कि चक्रवर्ती चण्ड के समय में जन्म ग्रहण कर लोगों की सेवा करें तथा उनके तन्त्रों के अनुसार सभी को समान भाव से देखें।

श्रीकालचक्र के अभिषेक[10] का भाग

महाटीका, प्रकाश में वर्णित अभिषेक के प्रसंग में मैं इस प्रकार उल्लेख करता हूँ। इसमें चार भाग हैं:—

(१) अभिषेक करानेवाले वज्राचार्य के आवश्यक गुण;

(२) अभिषेक ग्रहण करने वाले शिष्य के आवश्यक गुण;

---

१० वज्रयान के अनुसार अभिषेक सात प्रकार के हैं—उदकाभिषेक, मुकुटाभिषेक पट्टाभिषेक, वज्रघण्टाभिषेक, वज्रव्रताभिषेक, नाभाभिषेक और अनुज्ञाभिषेक। इसके प्रथम दो देहशुद्धि के लिये है। तीसरे और चौथे से वाक्-शुद्धि होती है। पाँचवें और छठे से चित्त-शुद्धि होती है तथा सातवें से ज्ञान-शुद्धि होती है।

देह पंचधातुमय है। उष्णीष से लेकर कटि सन्धि तक पंच जन्मस्थानों में यथा विधि समन्तक अभिषेक के द्वारा पंचधातुओं की शुद्धि की जाती है। इससे काय शुद्ध हो जाता है। इसीका नाम उदकाभिषेक है। मुकुटाभिषेक से पंचस्कन्ध या पंचतथागत की शुद्धि होती है। इस प्रकार प्रथम तथा द्वितीय से धातु तथा स्कन्धों के निर्मल हो जाने के कारण काय की सम्यक् शुद्धि हो जाती है। पट्टाभिषेक और वज्रघण्टाभिषेक के द्वारा दश पारमिताओं की पूर्त्ति होती है। इससे चन्द्र और सूर्य का शोधन होता है। इससे प्राकृत विषयों के नियन्त्रण तथा महामुद्रा की सिद्धि में सहायता मिलती है। छठे से राग-द्वेष का शोधन होता है और मैत्री आदि ब्रह्मविहारों की पूर्ति होती है। छठे अभिषेक के बाद की अवस्था का 'वज्र' शब्द में अभिधान होता है। सप्तम अभिषेक धर्मचक्रप्रवर्तन या बुद्धत्वप्राप्ति के लिये

(३) अभिषेक के लिये मण्डल के आवश्यक गुण; तथा

(४) अभिषेक देनेवाले मन्त्रों के आवश्यक गुण।

इसमें तीन भाग हैं—(१) मिट्टी की विधि; (२) अनुष्ठान, एवं (३) मूल विधि। पहले में चार भाग हैं—(१) मिट्टी की परीक्षा, (२) मिट्टी लेना, (३) मिट्टी द्यौत तथा (४) मिट्टी को ग्रहण करना।

मिट्टी द्यौत के तीन भाग हैं—(१) स्वयं एवं दूसरों की रक्षा के निमित्त दुष्टों को मार कर रक्षा की चिन्तना करना, (२) कील गाड़कर चण्ड का अनुष्ठान करना तथा (३) सर्वश्रेष्ठ तत्व का द्यौत करना।

मिट्टी ग्रहण करने के चार भाग हैं—(१) आत्मा को उपाहित कर चित्त को अन्तःकरण में रख देवता की अराधना करना, (२) मण्डल को उठाकर नमस्कार कर मन को शुद्ध करना, (३) चण्ड को भावकर दोनों नेत्रों को शुद्ध करना तथा (४) आदेश देना।

द्विनीय अनुष्ठान के नौ भाग हैं—(१) भूदेवी का अनुष्ठान, (२) कलश अनुष्ठान, (३) शंख अनुष्ठान, (४) कार्य अनुष्ठान, (५) वज्र अनुष्ठान, (६) घण्टा अनुष्ठान, (७) शिष्य अनुष्ठान, (८) आसन अनुष्ठान तथा (९) देव अनुष्ठान।

शिष्य अनुष्ठान के छः भेद हैं—(१) मन शुद्धकर अभिषेक ग्रहण करना, (२) प्रार्थना करना, (३) नियम का पालन करना, (४) मुँह धोकर कुल्ला करना, (५) छः जातियों में विभक्त होकर वज्रसत्व का भाव करना तथा (६) धर्मदीक्षा के द्वारा स्वप्न की परीक्षा करना।

मूल विधि के तीन भाग हैं—(१) मूल रेखा बनाकर रंगना, (२) कलश स्थापना कर मण्डल की शोभा बढ़ाना तथा (३) साधना के द्वारा पूजनोपरान्त अभिषिक्त करना।

होता है। अपरिमित सत्वों के आशय के अनुसार परमगुह्य वज्रयान के रहस्य का उपदेश करने के लिये संवृतिसत्य तथा परमार्थ सत्य का विभाग किया जाता है। इस प्रकार के बुद्धत्व के निष्पादन के लिये सप्तम अभिषेक का उपयोग है। इन सात अभिषेकों से शिष्य के कायादि चार वज्र शुद्ध हो जाते हैं। उस समय इनके हाथ में धारण करने के लिये वज्र या वज्रघण्टा होता है। अभिषेक के संवृति तथा परामार्थ दो रूप हैं। संवृति भी दो प्रकार की है—लोक संवृति तथा योगी संवृति लोक संवृति को अधर-संवृति तथा योगी संवृति को उत्तर-संवृति कही जाती है। पूर्वकथित उदकादि अभिषेक लौकिक सिद्धि के सोपान हैं। ये सभी पूर्व सेक हैं, उत्तर सेक नहीं। योगी-संवृतिरूप सेक कुंभादि तीन प्रकार के हैं—कुंभाभिषेक या कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक और प्रज्ञाभिषेक। ये उत्तर सेक लोकोत्तर सिद्धियों के मूल हैं। यद्यपि ये संवृत हैं, फिर भी परमार्थ के अनुकूल हैं। परमार्थ सेक ही अनुत्तर सेक है। पूर्व सेक के लिये मुद्रा आवश्यक नहीं है। उत्तर सेक के लिए आवश्यक है। नरेन्द्रदेवकृत बौद्धधर्म दर्शन की भूमिका, म० म० गोपीनाथ कविराज, पृ० ३६-३७

मूल रेखा बनाकर रंगने का भी दो भाग हैं—(१) पूजा के लिये मण्डल लिखना तथा (२) चिन्ह लगाना। साधना के द्वारा पूजनोपरान्त अभिषेक के भी तीन भाग हैं—(१) मण्डल निर्माण करना, (२) रंग के चूर्ण से मण्डल को रंगना एवं साधना करना तथा (३) मण्डल की पूजा करना।

मूल अभिषेक देने के दो भाग हैं—(१) मण्डल में प्रवेश करना तथा (२) प्रविष्ट किये हुये व्यक्तियों को ही अभिषिक्त करना। इसके प्रथम के भी दो भाग हैं—(१) आँखें बंद करने के बाद मण्डल में प्रवेश करना तथा (२) मण्डल को दिखाने के लिये प्रार्थना करना। इसके प्रथम के भी दो भाग हैं—(१) पर्दे के बाहर प्रवेश करना तथा (२) पर्दे के भीतर प्रवेश करना। इसके दूसरे के तीन भाग हैं—(१) अन्दर से परिक्रमा कर चारों द्वार पर नमस्कार करना, (२) शपथ ग्रहण करना तथा (३) ज्ञान-दृष्टि के द्वारा सत्य-ज्ञापन करना।

मण्डल को दिखाने के दो भाग हैं—(१) फूल चढ़ाना, (२) आँखें खोलना तथा मण्डल के विभिन्न देवताओं का परिचय प्राप्त करना।

प्रवेशक को अभिषेक देने के १६ भाग हैं—बाल चरित्र के सात अभिषेक, कलश अभिषेक, गुप्त अभिषेक, ज्ञान अभिषेक, अमृत अभिषेक, सर्वोच्च अभिषेक, कलश अभिषेक, गुप्त अभिषेक, ज्ञान अभिषेक तथा वज्राचार्य अभिषेक।

बालचरित्र के सात अभिषेक—इस प्रकार के हैं— १) श्रीकालचक्र के मण्डल के पूर्वी द्वार पर शुद्ध करने का अभिषेक, (२) उत्तरी द्वार पर मुकुट अभिषेक, (३) दक्षिणी द्वार पर देवी अभिषेक, (४) दक्षिणी द्वार पर पुनः वज्रघण्टी अभिषेक, (५) वज्रतपस्वी अभिषेक, (६) चण्ड-चण्डनी अभिषेक तथा (७) वज्रदान एवं बज्रमन्त्र अभिषेक।

संवृति संसार के चार अभिषेक हैं—(१) कलश अभिषेक, (२) गुप्त अभिषेक, (३) प्रज्ञा अभिषेक तथा (४) अमृत अभिषेक। नातार्थ अभिषेक के— (१) कलश अभिषेक, (२) गुप्त अभिषेक, (३) प्रज्ञा अभिषेक तथा (४) वज्राचार्य अभिषेक चार भाग हैं। वज्राचार्य अभिषेक के पाँच भाग हैं—(१) अभिषेक के स्थान पर बैठाना, (२) गृहस्थ श्रमणेर, भिक्षु आदि को बालचरित्र के सातों अभिषेकों को पृथक रूप में देना, (३) बालचरित्र के सातों अभिषेकों को धारण करनेवाले उपासक, कलश अभिषेक से युक्त श्रमणेर, गुप्त अभिषेक युक्त भिक्षु, प्रज्ञाभिषेक युक्त महाथेरा, तथा चारो अभिषेकों से युक्त गृहस्थ, इन सबों को स्पष्टीकरण करना, (४) वज्रकाय, वज्रवाक् तथा वज्रचित्त अभिषेक देने के बाद वज्राचार्य के नियमों को बतलाना। इसमें प्रधानतः १४ प्रकार की आपत्तियाँ हैं—(१) गुरु को क्रोधित करना, (२) गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करना, (३) वज्रभ्राता के ऊपर क्रोधित होना, (४) दया अभाव, (५) कुन्द पात करना, (६) तन्त्र एवं सूत्र के

ग्रन्थों की आलोचना करना, (७) गुप्त को प्रकट करना, (८) तप त्याग करना, (९) शून्य की अस्वीकृति, (१०) उपर से दया का ढोंग रचना और अन्तःकरण में कठोरता का होना, (११) अस्थिर आनन्द, (१२) ऋषियों की निन्दा करना, (१३) संभोग के समय पत्नी की निन्दा करना तथा (१४) स्त्रियों की निन्दा करना। ये अधिकांश अनुत्तर तन्त्रों का नियम है। इनमें विशेषतः वे ही सातों आपत्तियाँ अनिवार्य हैं जो श्रीकालचक्र के अभिषेक के लिये आवश्यक हैं।

श्रीकालचक्र का उत्पन्न क्रम[११]

श्रीकालचक्रयान की आस्थितिक्रिया पाँच प्रकार की है—(१) तन्तु सुधारना, (२) चूर्ण रंग से निर्मित मण्डल[१२] द्वारा श्रीकालचक्र में अभिषिक्त होना, (३)

११ चैतन्य को आवरण से मुक्ति ही योग का उद्देश्य है। एक-एक वज्रयोगरूप चैतन्य से एक-एक आवरण का उन्मीलन होता है जिसे अभिसंबोधि कहते हैं। चार योगों से चार प्रकार की अभिसंबोधि होती है। इसकी विवेचना दो तरह से की जा सकती है—(१) उत्पत्ति-क्रम तथा (२) उत्पन्न-क्रम। वैदिक धारा की साधना में भी इन दोनों का परिचय मिलता है किन्तु दोनों के प्रकार भिन्न हैं। सृष्टि-क्रम और संहार-क्रम अथवा अवरोह-क्रम और आरोह-क्रम का अवलंबन किये बिना सम्यक्रूपेण बिश्वदर्शन नहीं किये जा सकते। श्रीचक्र लेखन की प्रणाली में केन्द्र से परिधि की ओर या परिधि से केन्द्र की ओर जैसे गति हो सकती है या दोनों में तत्व-दृष्टि या कार्य-दृष्टि से भेद है ठीक उसी प्रकार उत्पत्ति-क्रम तथा उत्पन्न-क्रम में भी भेद है।

उत्पत्ति-क्रम में चार संबोधियाँ इस क्रम से हैं। सर्वप्रथम है, एकक्षण-अभिसंबोधि। यह स्वाभाविक या सहजकाय से संश्लिष्ट है। जन्मोन्मुख आलय विज्ञान जिस समय मातृगर्भ में माता और पिता के समरसीभूत बिन्दुद्वय के साथ एकत्व लाभ करता है, वह एक महाक्षण है। इस क्षण में सुख संवित्ति होती है, उसका नाम एकक्षण-संबोधि है। उस समय गर्भस्थकाया रोहितमत्स्य के सदृश एकाकार रहती है। उसमें अंग-प्रत्यंग का विभाग नहीं रहता।

इसके बाद पंचाकार-संबोधि होती है। पहले की काया सहजकाय से संश्लिष्ट थी किन्तु यह काया धर्म-काय से संश्लिष्ट है। मातृगर्भ में जब रूपादि वासनात्मक पाँच संवित्तियाँ होती हैं तब वह आकार-कूर्मवत् पंचस्फोटक से विशिष्ट होती है। यह पंचाकार-महासंबोधि की अवस्था है। तदनन्तर पंचज्ञान में से प्रत्येक ज्ञान पंचधातु, पंच इन्द्रिय तथा पंच आयतनों के वासना भेद से बीस प्रकार का है। काय भी बीस अंगुलियों से परिपूर्ण होता है। यह विंशत्याकार-संबोधि है। इसका संबन्ध संभोगकाय के साथ है। यहाँ तक का विकास मातृगर्भ में होता है। इसके बाद गर्भ से निष्क्रमण होता है। उसी समय मायाजाल के सदृश अनन्त भावों की संवित्तियाँ होती हैं। इसका नाम मायाजाल-अभिसंबोधि है। यह निर्माणकाय से संश्लिष्ट है।

मायाजाल के ज्ञान के उदय होने पर उत्पत्तिक्रम समाप्त हो जाता है। योगी गर्भाधान-क्षण को ही उत्पत्ति-क्षण मानते हैं। किन्तु अयोगी की दृष्टि में गर्भ से निष्क्रमण-क्षण या नाड़ीच्छेदक्षण ही उत्पत्तिक्षण है।

अभिषेक के नियमों का पालन करना, (४) श्रीकालचक्र की टीकाप्रकाश के चौथे परिच्छेद में वर्णित नियमों के अनुसार आचरण करना तथा (५) उत्पन्नक्रम का तीनों कालों में भलीभाँति पालन करना। इसमें दो भाग है—(१) उत्पन्नक्रम के पूर्व के कर्मों का सम्पादन करना तथा (२) मूलतः साधना के पालन का उपक्रम करना। पहले के अनन्तर—(१) वज्रघण्टी प्रदानकर गुप्त प्रसाद को शुद्ध करना, (२) प्रसादी को शुद्ध करना, (३) वज्रसत्व का उपभोग करना, (४) पुण्य एवं प्रज्ञा-पुण्य को प्राप्त करना तथा (५) रक्षाचक्र-छोटा, मध्यम एवं बड़ा आदि का उपयोग करना। रक्षाचक्र उपयोग के तीन भाग हैं–(१) स्वतः रक्षा,

---

उत्पन्न-क्रम वस्तुतः आरोह-क्रम है। इसे संहार-क्रम भी कहा जाता है तथा सृष्टि-क्रम भी इसे ही कहते हैं। जैसे माया से ब्रह्म में स्थिति लाभ करना एक धारा है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मावस्था का भी एक विकास व्यापार है। इससे परमात्मा तथा भगवान पर्यंत भावों की व्यंजना होती है। माया के प्रभाव से प्रतिदिन २१ हजार छः सौ श्वास-प्रश्वासों की क्रिया होती है। प्रत्यावर्तन की अवस्था में ठीक उसी प्रकार एक-क्षण-अभिसंबोधि की अवस्था होती है। इस अवस्था में प्राण-वायु शान्त होता है। इसीलिये चित्त महाप्राण में स्थिर होता है और स्थूल इन्द्रियों की क्रिया नहीं रहती। इस अवस्था में दिव्य इन्द्रियों का उदय होता है। स्थूल-देहाभिमान नहीं रहता। दिव्य देह का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में क्षणमात्र में ही विश्व दर्शन हो जाते हैं। यह ज्ञान वज्रयोग है और स्वभावकाय की अवस्था है।

क्षरविन्दु की देह रचनात्मक सृष्टि में अक्षर या अच्युत बिन्दु की सृष्टि विशुद्ध ज्ञान विज्ञानात्मक है। इस स्थिति में श्वासचक्र की क्रिया नहीं रहती। पूर्णत्व या बुद्धत्व का लाभ इसी क्षण में होता है। यह स्वभावकाय की अवस्था है। इसके बाद चित्तवज्रयोग होता है। इसका नाम पंचाकार अभिसंबोधि है। आदर्श ज्ञान, समता ज्ञान, प्रत्यवेक्षण ज्ञान, कृत्यानुष्ठान ज्ञान और पूर्ण विशुद्ध धर्मधातु का ज्ञान ये ही मुख्य ज्ञान हैं। द्रव्यादि पंचधातु और रूपादि पंचस्कन्ध ये दोनों प्रज्ञा और उपायात्मक हैं। ये पंचमण्डल निरोध स्वभाव हैं। यह धर्म और काल की अवस्था है।

जब संभोगकाय की अभिव्यक्ति होती है, तो वाग्वज्र रूप से उसका निरूपण किया जाता है। यह महासत्व है। इसीका परिणाम है बोधिसत्व इसमें ५ इन्द्रिय, ५ विषय, ५ कर्मेन्द्रिय और निरावरण लक्षण द्वादश संक्रान्तियां है। सब के अन्त में काय वज्रयोग का निरूपण होता है। यह निर्माणकाय है। समयतत्व षोडशाकार तत्ववेदनों के कारण अनुग्राहक है। अनन्त मायाजालों से काय का स्फुरण होता है। यहां की समाधि भी मायाजाल अभिसंबोधि है। इस अवस्था में एक ही समय में अनन्त तथा अपर्यन्त नाना प्रकार की माया के निर्माण लक्षण षोडश आनन्दमय बिन्दु का निरोध है। आचार्य नरेन्द्रदेवकृत बौद्धधर्म-दर्शन की भूमिका, पृ०-३१-३३

१२ मण्डल तान्त्रिक कर्मों के सम्पादन का आवश्यक भाग है जिसमें ब्रह्माण्ड की कल्पना की जाती है। मण्डल में मनुष्य के स्कन्ध, धातु एवं आयतन का दिग्दर्शन देवताओं के मूर्त्तियों के रूप में होता है। अभिषेक के समय शिष्य वज्रगुरु के द्वारा मण्डल प्रवेशकर तान्त्रिक क्रियाओं का साधन करते हैं। टच्ची-तिब्बेतन पेन्टेड स्क्रोल्स, पृ०-३१८

(२) पर-रक्षा तथा (६) वलिदान के द्वारा रक्षा करना। स्वतः रक्षा के पाँच भाग हैं—(१) काय, वाक्, चित्त तथा प्रज्ञा को शुद्ध करना, (२) छः प्रकार की जातियों का भाव करना, (३) काय, वाक्, चित्त एवं प्रज्ञा को स्वच्छ करना, (४) छः शाखा पर बिन्दु लगाना तथा (५) वज्र द्वारा दुष्टों को नाश करना।

साधना के पालन के उपक्रम के ३ भाग हैं—(१) अनुभव करना, (२) शिष्य को देवता का दर्शन कराना तथा (३) दुष्टों के नाश के लिये मन्त्रों को जपना।[13]

रक्षाचक्र के उपयोग के अन्त में ६१ या २० बलि प्रदान कर उसके ऊपर जल एवं गुप्त प्रसाद अर्पण कर वज्र की शक्ति को शुद्ध कर गण्ड, मस्त, ललाट, कंठ, हृदय, एवं नाभी को यथास्थान मिला देना पड़ता है। साधना के अन्त में (प्रज्ञाजप के पश्चात्) मन्त्र जपना, अमृत भोग करना तथा देवदूत को बिदाई करना पड़ता है। मध्याह्न काल के समान खाने, सोने, उठने, बैठने के समय भी योग की साधना करनी चाहिये।

श्रीकालचक्र की क्रिया का वर्णन

महाटीकाप्रकाश के पाँचवें भाग में वर्णित प्रज्ञा का संक्षिप्त विवरण मूलतः नाड़ी,[14] वायु[15] और शुक्र[16] ही आन्तरिक कालचक्र की क्रिया है।

---

१३ संस्कृत में मंत्र, शास्त्र, माया आदि विज्ञान तथा पाली में मन्त और विज्जा विद्या के पर्यायवाची शब्द हैं। इन विद्याओं का उल्लेख पुराणों में उपलब्ध है—(१) अनुलेपन विद्या का वर्णन मार्कण्डेय (अ० ६१, ८-२० श्लोक) पुराण में है। यह एक तरह का लेप था जिसे पैर में लगाने से आधे दिन मे ही सहस्त्र योजन यात्रा करने की शक्ति आती थी, (२) स्वेच्छारूपधारिणी विद्या (मार्कण्डेय, अध्याय २) से इच्छानुसार रूप धारण किया जाता था, (३) अस्त्रागम हृदय विद्या—इससे अस्त्रों का रहस्य जाना जाता था, (४) सर्वभूतरुत विद्या—इस विद्या के प्रभाव से मनुष्य सभी प्रकार के अमानवीय जीवजन्तुओं की ध्वनियों का अर्थ समझ लेता था, (५) पद्मिनी विद्या—इस विद्या से लक्ष्मी वश की जाती थी, (६) रक्षोघ्न विद्या—यज्ञों को अपवित्र बनानेवाले राक्षसों को दूर करने की विद्या, (७) जालन्धरी—अन्तर्धान होने की विद्या थी, (८) विद्यागोपालमन्त्र से साधक को वाक्सिद्धि प्राप्त होती थी, (९) परा वाला विद्या—इस विद्या के प्रभाव से सभी सिद्धियाँ वश होती थी, (१०) पुरुष प्रमोहिनी विद्या से स्त्रियाँ पुरुषों को मोहित कर अपने वश में कर लेती थी (११) उल्लापन विधान विद्या—इस विद्या से टेढ़ी वस्तु सीधी की जाती थी, (१२) देवहूति विद्या से देवता भी बुलाने पर प्रत्यक्ष होते थे तथा (१३) युवकरण विद्या से स्पर्शमात्र से ही जीर्ण प्राण युवक बन जाता था। इस तरह के अनेक चमत्कारिणी विद्याओं का संकेत पुराणों में मिलता है।

१४ नाड़ीचक्र से सर्वप्रथम एक नाड़ी समझनी चाहिये जो ब्रह्मनाड़ी या सुषुम्ना नाड़ी है। उसके बाद तीन नाड़ियाँ सुषुम्ना के वाम और दक्षिण इड़ा और पिङ्गला नाम की

इसके बहिरंग भाग में—चार महाद्वीप, आठ छोटे द्वीप पर्वतों का राजा, और चन्द्र तथा सूर्य हैं। नाड़ी के मूल १८ हैं। ये माता से प्राप्त होते हैं। पिता से माँस, रक्त, त्वचा, हड्डी आदि प्राप्त होते हैं। मूल और शाखा बिना विच्छेद

नाड़ियाँ हैं। शिवसंहिता में (२, १३-१५) नाड़ियों की संख्या ७५००० कही गयी है। उनमें १४ नाड़ियाँ प्रधान हैं। विराट्पुराण के चतुर्थ पटल, योगशरीर आदि ग्रन्थों में १० प्रधान नाड़ियों का उल्लेख है। योग शरीर में पयस्विनी, वारुणी, बिश्वोदरी और यशस्विनी नाड़ी का नाम नहीं है। विराट्पुराण में इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, हस्ति जिह्वा. जिह्विका, पुंसावरी, यशावरी, विन्दुका, कुहू और शङ्खिनी प्रधान नाड़ियाँ हैं। ये सभी नाड़ियाँ प्राणवाहिनी तथा नाभिमण्डल से निकलकर चारों ओर फैली हुई हैं। इड़ा को ललना और पिगंला को रसना भी कहते हैं। जिस नाड़ी में दोनों नाड़ियाँ समायुक्त होती हैं उसे अबधूती कहते हैं। अवधुती को सुषुम्ना भी कहते हैं। इड़ा चन्द्रमा और शक्ति का प्रतीक है और पिगंला सूर्य और शिव का प्रतीक है। षट्चक्र निरूपण, पृ० ३

१५ नाड़ी मात्र वायु से बनी हुई और वायु के यातायात का मार्ग रूप है। वायु की स्थूलता तथा सूक्ष्मता के ऊपर नाड़ियो की स्थूलता और सूक्ष्मता निर्भर है। जबतक वायु की क्रिया रहती है तबतक नाड़ी जाल का भेदकर शान्त आकाश में स्थिति लाभ की कदापि सम्भावना नहीं है। इन्द्रियों की क्रिया, मन की क्रिया और बुद्धि की क्रिया वायु के स्पन्दन से उत्पन्न होती हैं। अतएव नाड़ी चक्र की सहायता से निष्पन्न है। क्रिया की परावस्था में जब वायु की गति निरूद्ध हो जाती है, तब नाड़ी जाल का उपसंहार हो जाता है। इस अवस्था में ज्ञान आदि सब व्य।पार निरुद्ध हो जाते हैं यही योग शास्त्रोक्त वृत्तिनिरोध की अवस्था है। इस अवस्था में शून्य अथवा ब्रह्म के साक्षात्कृत होने से वृत्ति-निरोध की भी निवृत्ति होने पर व्युत्थान और निरोध समभावापन्न हो जाते हैं। भीतर और बाहर कारण और कार्य सब प्रकार के द्वन्द्वातीत परम साम्यभाव का उदय होता है। निर्वाणावस्था वस्तुतः इसी का नामान्तर है। निर्वाणपद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही है—अर्थात् वायु की निवृत्तावस्था। म० म० गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना पृ० २९२

१६ शुक्र=कर्पूरक (स्ट० तं०, पृ० ३०) संधा भाषा में शुक्र का अर्थ वैरोचन है—शुक्रं वैरोचनं स्यातं वज्रोदकं तथाऽपरम्। स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्र पुंसेन्द्रियं यथा। ज्ञानसिद्धि, २-२, डा० पृ०-५१

तन्त्रशास्त्र में जिस अग्निषोमात्मक बिन्दु का उल्लेख पाया जाता है वह शुक्र का ही रूप है। अग्नि के सम्पर्क से घृत जिस प्रकार गलकर धारारूप में बहने लगता है, उसी प्रकार प्रकाशात्मक शिव के सम्पर्क से विमर्शरूपा पराशक्ति द्रुत होती है तथा उसके एक परमानन्दमय अमृत की धारा का स्राव होता है। यही धारा एक प्रकार से चित्कला एवं दूसरे प्रकार से ब्रह्मानन्द का स्वरूप है। यह चित्कला महाशक्ति के स्वातन्त्र्य के प्रकाश और विमर्श के घनीभूत संश्लेषण से अद्भूत होती है। शुद्ध प्रकाश या शुद्ध विमर्श बिन्दु-पद का वाच्य नहीं है। जिस विमर्श शक्ति में निखिल प्रपञ्च विलीन रहता है,

के १० वायु हैं। आनन्द का मूल स्रोत श्वेतशुक्र मस्तक में रहता है। उष्णता की मूल अग्नि नाभी स्थान में रहती है। शरीर के ऊपर एवं नीचे के भागों में —(१) जागृत शुक्र, (२) स्वप्न शुक्र, घोर निद्रा शुक्र तथा (४) सम्भोग शुक्र नाम के चार शुक्र हैं।

इसमें आने के छः मार्ग हैं—(१) निबन्ध में छः शाखाओं का बन्धन, (२) साधना में चार शाखाओं का बन्धन, (३) त्रिवज्र का बन्धन, (४) चार प्रकार के योगियों का बन्धन, (५) तीन प्रकार के पुण्यों का बन्धन तथा (६) तीन प्रकार की शाखाओं का बन्धन हैं। बन्धन छः प्रकार के होते हैं। काया साधन की शाखा, प्राण साधन की शाखा, तथा आनन्द साधन की शाखा। इन तीन शाखाओं के द्वारा छः बन्धनों के उपयोग में सुविधा होती है। अंतिम निबन्ध शाखा की यह साधना [17] महायान के निबन्ध पथ से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति तक की जाती है। इसका

उसके संसर्ग से अनुत्तर-अक्षर-स्वरूप प्रकाश बिन्दुरूप धारण करता है। इस बिन्दु का नामान्तर प्रकाश-बिन्दु है जो विमर्श शक्ति के गर्भ में स्थित रहता है। इसके पश्चात् विमर्श शक्ति के प्रकाश बिन्दु में अनुप्रविष्ट होने पर यह बिन्दु उच्छन्न हो जाता है अर्थात् पुष्टिलाभ करता है। उससे तेजोमय बीज स्वरूप नाद निर्गत होता है। इस नाद में समस्त तत्व सूक्ष्मरूप से निहित रहते हैं। नाद निर्गत होकर त्रिकोणाकार रूप धारण करता है। यही "अहम्" नाम का बिन्दु-नादात्मक प्रकाश-विमर्श का शरीर है। इसमें प्रकाश शुक्र-बिन्दु है और विमर्श रक्त-बिन्दु है तथा दोनो का पारस्परिक अनुप्रवेशात्मक साम्य मिश्र बिन्दु है। उसी साम्य का दूसरा नाम परमात्मा है। इसी को रवि या काम भी कहा जाता है। अग्नि और सोम इसी काम के कला विशेष हैं।

१७ प्राचीन बौद्ध साधन का रहस्य शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा सम्यक् आचार, ध्यान तथा ज्ञान में निहित हैं। ये तीनों निर्वाण तक ले जाने वाली सीढ़ी के तीन क्रमिक सोपान हैं। प्राचीन बौद्धों का लक्ष्य निर्वाण था जिसका अर्थ था—तृष्णा या वासना का नाश करना। यह निर्वाण अपने व्यक्तिगत दुःख और अनर्थ से मुक्ति के रूप में माना जाता था। प्रमाणवार्तिक की टीका में मनोरथनंदी ने साधना के सम्पूर्ण प्रक्रिया को बोधि पर आधारित माना है। इनके अनुसार साधक अवस्था बोधि के क्रम विकास की अवस्था है, जिसमें बोधि क्रमशः अंत में सिद्धावस्था में सम्यक् संबोधि को प्राप्त करता है।

तान्त्रिक साधन का मुख्य लक्ष्य है बिन्दु सिद्धि। बौद्ध तान्त्रिक परिभाषा में बिन्दु ही बोधिचित्त नाम से प्रसिद्ध है। मनोमयकोष का सारांश मन, प्राणमयकोष का सारांश प्राण या ओजस तथा अन्नमय कोश का सारांश वीर्य या शुक्र धातु है। अज्ञानी जीव के ये तीनों चंचल तथा मलिन होते हैं। साधना के प्रस्थानभेद के अनुसार कोई मन पर प्राधान्य आरोपित करता है, कोई प्राण पर और कोई बिन्दु पर। क्रिया के प्रभाव से बिन्दु की निर्मलता एवं स्थिरता की सिद्धि होती है।

तान्त्रिक परिभाषा में चंचल बिन्दु संवृत बोधिचित्त है परंतु जब योगाभ्यास से इसे स्थिर किया जाता है तब यह संवृत न रहकर विवृत बन जाता है। संवृत का अर्थ है

कारण है मध्यमा नाड़ी के अन्दर के श्वेत शुक्र जो नीचे से ऊपर की ओर सतह के रूप में रहता है। रक्त-शुक्र का सतह ऊपर से नीचे की ओर रहता है। कुल मिलाकर २१६०० सतह शून्य से मिलकर २१६०० स्थायी महानन्द प्राप्त होते हैं। कर्म वायु २१६००, जर्जरकाय के धातु २१६०० हैं। अतएव ८६४०० आवरण हैं। इन सभी आवरणों का नाशकर एवं बारहों भूमियों को अन्त करने के उपरान्त श्री-कालचक्र के चारों कायों की प्राप्ति होती है।

इसके लेखक क्लोन-र्-दोल्-ब्लामा (लोङ्-दो लामा) हैं। जिनका भिख्खु नाम ङग्-द्-वङ-ब्लो-बसङ है।

संकुचित तथा विवृत का अर्थ है फैला हुआ। बोधिचित्त जब विवृत्त हो जाता है तब वही महासुख रूप में परिणत हो जाता है। कुंदपुष्पनिभ संवृत बोधिचित्त ही योग प्रभाव से ऊर्ध्वगति लाभ करने पर महासुख रूप में परिणत होता है। यही रस है। इसीलिये एकमात्र महासुखचक्र या उष्णीष कमल में ही बिन्दु स्थिर होता है, अन्यत्र नहीं। अन्यत्र गतिरोध हो सकता है किन्तु ऐसी स्थिति नहीं हो सकती जिसमें सहजानंद की अभिव्यक्ति हो सके।

अनुक्रमणिका

अंडमन टापू, ३९
अजीत, ३५
अणिचक्र, ६
अणिमा, १३
अतिभद्र, ३४
अद्वय, २१
अनन्त, ३५
अनन्तविजय, ३५,३६
अनभिसंस्कार, १९
अनाहत, ६
अनिमित्त, १७
अनुत्तरयोगतन्त्र, १३
अनुशासन, १८
अनुष्ठान, ३९
अनुस्मृत, १८
अनुज्ञाभिषेक, ३८
अपर शैल, १०
अपान, १५
अप्रणिहित, १७
अफगानिस्तान, ११
अफ्रिका, २९
अभिनव गुप्त, १९,२१
अभिनिश्रयन सूत्र, ९
अभिषेक, ३८,४०,४२
अभिसंवोधि, ४१
अमरावती, ९
अवधूती, ४४
अवरोह क्रम, ४१
अवलोकितेश्वर, ३०
अष्टसिद्धि. ३३
अस्तुकय, ३४
अस्त्रागम हृदय विद्या, ४३
अहम, ४५
आक्सस, ११
आगम, १८
आदिबुद्ध, १३
आरण्यक, १८
आरोह-क्रम, ४१,४२
आर्यदेश, ३०,३४,३७
आलार कलाम, १९
इड़ा, ४३,४४
इन्द्रद्वीप, २९
इन्द्रिय, ४२
इलावृत, ३०
इस्लाम, ११
ईशित्व, ३३
ईश्वर, ३१
उत्पन्न क्रम, ४२
उदकाभिषेक, ३८
उदयन. १९
उपनिषद, १८
उपाय, ५,१७
उपेक्षा, ७,२०
उल्लापन विधान विद्या, ४३
उष्णीष कमल, ४६
ऋग्वेद, १८,१९
एकक्षण-अभिसंबि, ४२
एकक्षण-संवोधि, ४१
एसियाटिक सोसाइटी, १४
कच्छप, ३५
कठ, १९
कठोपनिषद, १९
कन-जुर, २३
करुणा, ७,२०
कर्ममुद्रा. ७
कलशाभिषेक, ३९
कलाप, २७,३२
कलियुग. ३६
कल्कि, ११, ३५
कश्यप, ३४,३५

कसेरु, २९
कांश देश, ३०
कामवासायित्व, ३३
कायवज्र, १६,२०
कायविशुद्धि, २०
काल, २०
कालचक्र, ५-८,१२,१५,२०,२२,३१
कालचक्रटीका, १५
कालचक्रमूलतन्त्र, १३,१४
कालचक्रयान, २०
कालिदास, २९
काली, २०
काश्मीर, १२
किन्नर द्वीप, २८
कुंभाभिषेक, ३९
कुशद्वीप, २८
कुषाण, २९
कुहू, ४४
कृष्ण, ११,३५
कृष्णमणि पर्वत, २८,२९
केम्ब्रीज विश्वविद्यालय, १४
कोरोस, ९,११,१२
कोल्हाटचक्र, ६
कौषीतकि, १९
क्रमेन्द्रिय, ४२
क्रौंचद्वीप, २८,२९
ख्लऽ-ख्लो, ९
ख्लोङ्-रदल-ग्सुङ्-बुम, १०
ख्लोन्-र्दोल-ब्लाम, २५,४६
क्षीर सागर, २८
खि्-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन्, २२
गतिशील, ३५
गन्धर्वद्वीप, २९
गभस्तिमान, २९
गुप्त, ३४
गुप्तचक्र, ६
गुह्यसमाज, १७,३३
गुह्यसमाजतन्त्र, १०
गुह्याभिषेक, ३९
गोपीनाथ कविराज, ३१
ग्सिन-र्जे-ग्सेद, ९
घृत-सागर, २८
ङग्-द्वङ-ब्लो-बगङ, ४६
चक्र, ७, २०
चण्ड, २५,२७,२९,३५-३८
चण्ड द्वीप, २८
चन्द्रचक्र, ६
चन्द्रपुत्र, ३४,३७
चन्द्र प्रकाश, ३५
चर्यातन्त्र, १३
चित्तवज्र, १६,२०
चित्तवज्र विशुद्धि, २०
चित्तशुद्धि, ३८
चीन, ३०,३४,३७
चोङ्-ख-प, २३,३७,३८
जयरामदत्त, १४
जम्बूद्वीप, २८-३०,३६
जाग्रत, २०
जालन्धरी विद्या, ४३
जिनमित्र, २२
जिह्विका, ४४
जुन-ऽजुग-दुस-क्यी-ऽखोरलो, ९
छङ्स-द्व्यङ्-स्-रग्य-मछो, २५
छन्दोग्य, १९
छोस्-क्यी-रग्यल-मत्स्न्, २४
ज्ञाता, २०
ज्ञान, ४५
ज्ञानवज्र, १६, २०
ज्ञान विशुद्धि, २०
ज्ञान शुद्धि, ३८
टीका प्रकाश, ४२
टुच्ची, ८, ४२
डाकार्णव, २१
तन-जुर, २३
तन्त्र, १२
ताम्रपर्ण, २९
तारा, ७
तारानाथ, २१